

जुआरी :

पहाड़ के लोगों को जोड़ती एक परंपरा



दौलत भारती

पुस्तिका सीरीज़-93

प्रकाशक :

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in

कॉपीराइट © : इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी, 2021

प्रकाशन वर्ष : 2021

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस शोध-पुस्तिका या इस शोध-पुस्तिका के किसी भी अंश को न तो पुनः प्रकाशित किया जा सकता है और न ही किसी भी अन्य तरीके से, किसी भी रूप में इसका व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है।

दो शब्द

मेहनत का साझापन, श्रम की सामूहिकता है जुआरी। जुआरी यानी एक दूसरे के साथ मिलकर जीवन जीने की कला।

दौलत राम भारती की यह लघु शोध पुस्तिका यह समझाती है कि पहाड़ की मुश्किल भौगोलिक संरचना को इंसान ने कैसे अपना रहवास बनाया होगा। इंसान की मेहनत और साझेदारी की इंसानी फितरत ही शायद दो मूल ताकत रही हों जिसने जीवन मुमकिन बनाया। लोग एक-दूसरे के साथ अपनी मेहनत का साझा करते खेतों में, निर्माण में, सामाजिक उत्सवों, शादी ब्याह में। हर परिवार से एक व्यक्ति शामिल होता कि मिल-जुलकर काम निपट जाए और फिर साथ मिल कर खाना और साथ मिलकर कठिन श्रम की थकान गीतों के सुर और पैरों की लयबद्ध ताल में घुला देना। अगली बार फिर यही क्रम, कहीं और, किसी और के लिए। अपनी सामुदायिक, सामूहिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग पारस्परिक निर्भरता के सूत्र से बंधा गांव दर गांव।

बेशक, इस पारस्परिकता में जाति, वर्ग और लैंगिक भेदभाव की वे परतें भी दिखेंगी जिससे हमारा समाज ग्रस्त है। पर जुआरी का साझापन वो एक दीया है जो आज समाज के उजले पक्षों को रोशन करेगा

जहाँ

ऊंचे-ऊंचे हिमशिखर, गगनचुम्बी पर्वत मालाएं, कल-कल बहते नदी नाले, झर-झर झरते झरने, पर्वतांचल से नदी तट तक बसे गाँव और बस्तियाँ हैं। सीढ़ीनुमा खेत, हरित आवरण, चारागाहें, झीलें हैं। पहाड़ों के सीने से गुजरती सर्पीली सड़कें, पगडंडियाँ हैं। वादियों को मनमोहक बनाते सुसज्जित जंगल, पेड़ों के झुरमुट, वाद्ययंत्रों की धुनों पर गूँजती सुर-लहरियाँ, देवत्व के सतत साक्ष्य देव स्थान, मंदिर, देवी-देवता, मेले-त्यौहार, सांस्कृतिक विरासत जिसे अलग पहचान देती है। कुछ ऐसा ही है देश के उत्तरी भारत में पश्चिमी हिमालय का एक पहाड़ी राज्य हिमाचल।

हिमाचल का शाब्दिक अर्थ हिम या बर्फ के आँचल में होने के कारण ही प्रदेश का नामकरण हुआ। हिमाचल सबसे प्रमुख 11 पहाड़ी राज्यों में से एक है। 55,673 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले हिमाचल के उत्तर में जम्मू-कश्मीर, लेह-लद्दाख, पश्चिम, उत्तर पश्चिम में पंजाब, दक्षिण में हरियाणा, दक्षिण पूर्व में उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश और पूर्व में तिब्बत है। हिमालय की तीन मुख्य पर्वत श्रृंखलाओं वृहत हिमालय, लघु हिमालय (धौलाधार) और शिवालिक श्रेणी का प्रदेश में होना भौगोलिक लिहाज से भी इसे अलग पहचान प्रदान करता है।

हिमाचल प्रदेश कई नदी-नालों का उद्गम स्थल है। यहाँ असंख्य नदी नाले साल भर बहते रहते हैं। ये सब प्रदेश की पांच प्रमुख नदियों का हिस्सा बनते हैं। सतलुज, व्यास, चिनाब (चन्द्रभागा), रावी और यमुना यहाँ की प्रमुख पांच नदियाँ हैं जो सिन्धु और गंगा नदी में समाहित होती हैं। सतलुज नदी कैलाश पर्वत के दक्षिण में मानसरोवर (तिब्बत) से निकलती है और शिपकी दर्रे के पास हिमाचल में प्रवेश करती है। सतलुज में एक ओर से स्पीती, पेजर, काशंग, मुल्गुन, वांगर, रूपी, शोरंग तो दूसरी ओर से तिरंग, ज्ञानथिंग, वास्पा, कुर्पन आदि कई नदियाँ एवं जलधाराएँ मिलती हैं।

रोहतांग दर्रे के पास व्यास कुंड से निकलने वाली व्यास में पिन-पार्वती, मलाना, सोलंग, मनाल्सू, दुहांगन, फोजल, सरवरी, हंसा, तीर्थन, बाखली, सुकेती, जिउनी, उहल, पनोड़ी, सोन, बिनवा, नयुगल, बानगंगा, बनेर, गज, मनुणी आदि नदी-नाले समाहित होते हैं।

धौलाधार पर्वत श्रृंखला के बड़ा भंगाल क्षेत्र में तांतगिरी और मादल ग्लेशियर से निकलने वाली रावी में छतराड़ी, वोदिल, टुंडेहन, बलजेडी, साल, सियुल, बैरा मिलकर चौहड़ा नामक

स्थान पर विशाल रूप धारण करती है। हिमालय की बारालाचा पर्वत श्रृंखला के सूरज ताल से भागा और चंद्रताल से निकलने वाली चन्द्रा नदी लाहुल स्पीती जिला के तांदी नामक स्थान पर चंद्राभागा बनती है जो आगे बढ़ते हुए चिनाव नदी हो जाती है। उतराखंड के कालिंद पर्वत के यमुनोत्री से निकलने वाली यमुना सिरमौर जिला के खोदर माजरी में हिमाचल में प्रवेश करती है। हिमाचल और उतराखंड की सीमा को बाँटती यमुना की गिरी, पब्बर, बाटा और पाताल, सरस्वती, आन्ध्रा, शिकडी, टोंस आदि सहायक नदियाँ हैं।

विभिन्न नदियों की धाराओं के साथ-साथ अलग-अलग भूखंड एवं क्षेत्रों की वजह से ही हिमाचल में अलग-अलग वादियों एवं घाटियों का अस्तित्व दिखाई देता है। वास्तव में शिखरों और जलधाराओं (नदी-नालों) से बनी प्राकृतिक सीमाओं ने ही प्रदेश को विभिन्न वादियों और घाटियों में बांटा हुआ है। इसी भूगोल से ही लोगों की जीवन शैली, संस्कृति, परंपराएं, भाषा बोली में विविधता की झलक देखी जा सकती है। पहाड़ की जीवन शैली भी पहाड़ों की तरह कठोर रही है।

इतिहास की परतों एवं प्रमाणों के अनुसार देव भूमि कहे जाने वाले हिमाचल प्रदेश से आर्यों का सम्बन्ध ऋग्वेद से भी पुराना है। आंग्ल-गोरखा युद्ध के बाद यह अंग्रेज़ शासकों के हाथ आता गया। अंग्रेज़ी शासन के दौरान बेगार प्रथा पनपने से श्रम शक्ति के शोषण के प्रमाण मिलते हैं। मौजूदा हिमाचल के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर यह पहाड़ी भूखंड पंजाब का हिस्सा रहा। 1948 में अस्तित्व में आया हिमाचल प्रदेश 1971 में पूर्ण राज्य बना। पहली नवम्बर 1966 तक कुल्लू जिला भी पंजाब राज्य का हिस्सा रहा। इसी दिन काँगड़ा, कुल्लू, शिमला, लाहौल स्पीति, नालागढ़, ऊना, डलहौजी, बकलोह आदि को हिमाचल में मिलाये जाने के बाद ही मौजूदा हिमाचल का भौगोलिक स्वरूप सामने आया।

अपनी भाषा, कला और सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रदेश की अपनी ही अलग पहचान है। यहाँ अलग-अलग बोलियाँ, अनूठी देव परंपराएं, सामाजिक परंपराएं, रस्मों-रिवाज़ विरासत के रूप में आज भी अपनी जगह बनाए हुए हैं। जिनका लोग बखूबी निर्वहन करते हैं। देवभूमि के नाम से विख्यात प्रदेश के मेले त्यौहार भी हिमाचल को विशिष्टता प्रदान करते हैं। 'अतिथि देवो भव' यहाँ की संस्कृति और संस्कारों में रचा-बसा हुआ है।

हिम के आँचल में एक भूखंड हिमाचल जिसका अधिकांश क्षेत्र पहाड़ी है। प्रदेश का लाहुल स्पीति, लाहुल और स्पीति दो अलग-अलग हिस्सों में बंटा हुआ है। यहाँ की जीवन शैली पर लेह लद्दाख, तिब्बत आदि का प्रभाव भी दिखता है। भौगोलिक दृष्टि से लाहुल स्पीती, किन्नौर और पांगी-भरमौर को कबायली क्षेत्र का दर्जा प्राप्त है। लाहुल स्पीति को शीत मरुस्थल भी कहा जाता है। छह महीने तक बर्फ की कैद में रहने वाले लाहुलियों का जीवन अब तक प्रदेश में सबसे कठोर रहा है। पहाड़ी क्षेत्र होने से समूचे हिमाचल का ही जनजीवन विकट एवं कठोर भी है।

हिमाचल प्रदेश में कृषि बागवानी के साथ पशुपालन भी यहाँ का मुख्य पेशा है। विकट भौगोलिक परिस्थितियाँ यहाँ के लोगों के लिए श्रम और संघर्ष की राह बनी। सड़कों के निर्माण के

साथ भले ही प्रदेश के लोगों की जीवन शैली बदलती हुयी दिखाई दे रही है लेकिन इस प्रदेश में अभी भी विभिन्न परंपराओं का महत्व बरकरार है। अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियाँ होते हुए भी काफी हद तक यहाँ एकरूपता भी है। समय के अनुसार, जरूरतों के अनुसार जन्मी परंपराएँ अभी भी एक विरासत के रूप में यहाँ की जीवन शैली से जुड़ी हुयी हैं। यही वजह है कि शांत सुरम्य हिमाचल प्रदेश में परंपराओं की बदौलत धर्म और जाति के नाम पर टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। पहाड़ के लोगों को आपसी भाई-चारे की कड़ी में जोड़े रखने में यहाँ की परंपरागत विरासत की अहम भूमिका है। श्रम शक्ति पहाड़ की खेती, बागवानी या पहाड़ की जीवन शैली में अहम भूमिका निभाती है। श्रम शक्ति के बिना पहाड़ों के विकास या आत्मनिर्भरता की भी परिकल्पना नहीं की जा सकती। कृषि और फलोत्पादन में अग्रणी हिमाचल प्रदेश में कुछ साझी विरासतों और परंपराओं का योगदान भी रहा है। कुल मिलाकर पहाड़ों की जीवनशैली, कृषि और परंपराएँ आदि भी मौसम और भौगोलिक परिस्थितियों पर आधारित है।

आपसी सामंजस्य साझे प्रयास, मिलजुल कर एक-दूसरे का हाथ बंटाने की परम्परा खेत खलियान चारागाहों, घर गाँव से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ी एक परम्परा तेजी से विलुप्तता की ओर बढ़ रही है। विभिन्न समुदायों के बीच आपसी सद्भाव बनाए रखने के लिए मिलजुल कर काम की परम्परा का पीछे छूटना ग्रामीण समाज, जीवनशैली में बड़ा बदलाव ला रही है। अब आपसी संबंध अपने तक या फिर पैसों तक ही सीमित होते जा रहे हैं। ग्राम्य परिवेश को विकास की राह ले जाने वाली 'जुआरी' प्रथा का अंत की ओर गमन निश्चित रूप से चिंतनीय है। एक-दूसरे पर निर्भरता खत्म होना कहीं-न-कहीं आपसे भाईचारे की दीवारों को भी खोखला कर सकती हैं। इन परम्पराओं का पीछे छूटना एक विडम्बना कही जा सकती है। बहरहाल पहाड़ की जीवन शैली, कृषि व्यवस्था में जुआरी का खत्म होना एक परम्परा के सिमटने के साथ-साथ खेती के लिए भी नुकसानदेह साबित हो सकता है। जुआरी परम्परा के संरक्षण और संवर्धन के लिए इसे नये रूप में ढालने की आवश्यकता है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ आगे बढ़ते हुए पहाड़ों में पहाड़ सी कठोर जीवन शैली ने कई परंपराओं को जन्म दिया। कुछ मुश्किलों को आसान करने के लिए साझे प्रयासों की शुरुआत हुई। कुछ परंपराओं के रूप में विकसित हुईं। विरासत के रूप में हर पीढ़ी इन्हें संभालती गयी, संजोती गयी और सहेजती भी रही। कुछ परंपराओं में सुधार आया और कुछ अन्धविश्वास के चक्रव्यूह में फँसती चली गई। कुछ मानव जाति के लिए वरदान साबित हुई तो कुछ अभिशाप के रूप में भी पैठ बना गई।

बदलते परिवेश और बदलाव की आबोहवा के साथ कुछ रस्में, कुछ परंपराएँ आज के पड़ाव तक पहुँचते-पहुँचते विलुप्त हो गयी हैं। आधुनिकता की दहलीज़ और उसकी चकानौंध, सिक्कों की खनक और नकदी की सरसराहट ने भी कई रस्मों को या तो लील लिया या फिर हाशिये पर धकेल दिया। भले ही गुण दोष के पैमाने में हिमाचल के पहाड़ों की परंपराओं का स्वरूप कैसा भी रहा होगा या है लेकिन सामाजिक तौर पर पहाड़ की इन्हीं परंपराओं, प्रथाओं और

रिवाजों ने पहाड़ के लोगों को आपस में जोड़े रखने, आपसी सद्भाव, भाईचारा बनाये रखने में अहम भूमिका निभाई है। इंसानियत को जिंदा रखने में परंपराओं का भी योगदान रहा है। साझे प्रयासों से ही ये परंपरायें पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती गयी।

मानव सभ्यताओं के विकास के साथ-साथ विलुप्तता के कगार पर खड़ी कई परंपराओं के विकास पथ पर योगदान को कतई नहीं नकारा जा सकता। न आपसी द्वेष, न मनमुटाव, न तकरार न टकराव यही पारम्परिक विरासत की विशिष्टता है। इक्का-दुक्का अपवाद हो सकते हैं लेकिन इन परंपराओं का पहाड़ी समाज को एक सूत्र में पिरोए रखने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

संभवतः हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों के लोग किसी समय घुमंतु रहे होंगे। ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं। भेड़-बकरी, पशु-पालन यहाँ के लोगों का प्रमुख पेशा रहा। मौसम के अनुरूप बदलते ठौर-ठिकाने यही पहाड़ के लोगों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवनचर्या और जीवन शैली रही। भेड़-बकरी के साथ लोगों की आधी ज़िदगी थाचों (चारागाहों) और जंगलों में कट जाती। जहाँ पशुओं के लिए अच्छा चारा होता, रहने के लिए गुफा होती वहाँ लोग दो-तीन महीने भी गुज़ार लेते। घुमन्तु जीवन में लोगों को स्थिरता और स्थायित्व का भी आभास होने लगा था।

धीरे-धीरे स्थायी बसेरों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। लोगों ने नदी नालों के करीब या जहाँ पीने के लिए पानी था, पशुओं के लिए चारा, ईंधन के लिए लकड़ी, कृषि योग्य भूमि एवं जीवन यापन के लिए मूलभूत सुविधाएं थीं वहीं अपना ठिकाना बना लिया। कंदराओं और गुफाओं को अपना आशियाना बना लिया। संघर्षों भरी और घुमन्तु जीवनशैली ही इस पहाड़ी प्रदेश की पहचान बन गयी। धीरे-धीरे कुनबे बढ़ते गए, घर बनने लगे, बस्तियां बसती गईं और बसते-बसते गांव बस गए। पहाड़ों में प्रचलित लोकगाथाएं, जनश्रुतियां, लोकगीत और जीवन शैली कुछ ऐसे ही प्रमाण प्रस्तुत करती थी। हालाँकि आज इन किस्मों कहानियों के जानकार नहीं हैं लेकिन कुछ ऐतिहासिक संदर्भ मेल खाते हैं। अभी भी पहाड़ों में परिवार खानदान से जाने जाते हैं। खानदान के नाम किसी पूर्वज की पहचान एवं नाम को इंगित करते हैं। कुछ गाँव के नाम भी किसी-न-किसी व्यक्ति से जुड़े हैं।

फसल का तैयार होना, भेड़ बकरी के साथ जंगल की ओर जाना और महीनों बाद लौट आना यही सब यहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा। कहीं जुदाई तो कहीं मिलन के पल उत्सव बन गये। कमोबेश हिमाचल, उतराखंड सहित तमाम पहाड़ी क्षेत्रों की संस्कृति जीवन शैली, परंपराएं, भौगोलिक परिस्थिति एवं स्वरूप में एकरूपता-सी दिखती है। पहाड़ की जीवनशैली में आपसी भाईचारे, एकजुटता और एक दूसरे के सहयोग की भूमिका चिरकाल से चली आ रही है। इसी की वजह से घुमन्तु कबीलों में स्थायित्व एवं ठहराव आया। ग्रामीण जीवनशैली का इन्ही समुदायों ने आगाज़ किया।

पहाड़ की जीवन शैली, जीवन यापन में बदलाव और सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विकास में यहाँ के लोगों के साझा प्रयास और भूमिका अहम रही है। आपसी सामंजस्य और सहयोग की यही कड़ी पहाड़ के लोगों को हर समस्याओं और मुश्किलों से पार पाने में कारगर रही

है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहाड़ के लोगों की एक-दूसरे के लिए मददगार बनने की यह परिणति एक परंपरा एवं विरासत के रूप में विकसित हो कर भले ही आज पीछे भी छूटती जा रही हो लेकिन आज भी इसी विरासत की कई कड़ियां यहाँ के लोगों को आपस में जोड़े रखने और आपसी भाईचारा बनाए रखने में अहम भूमिका निभा रही है।

अपनी विरासत की कुछ कड़ियों को संजोये रखना जरूरी है यह आज भी महसूस किया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर, पिछड़ा, दुर्बल, दीन-हीन हो या फिर धन कुबेर कुछ परंपराओं ने एक ही दृष्टि से सभी को लाभान्वित करने के प्रयास ही नहीं किये अपितु आज के सुख-सुविधा और बदलते सुनहरे द्वार तक पहुँचने में भी मदद की है। ऐसी ही परंपरा में से एक प्रमुख है 'जुआरी' जिसका आगाज़ पहाड़ की मानव सभ्यता के साथ ही हुआ होगा ऐसा माना जा सकता है। एक-दूसरे की मदद की इस परंपरा को एक पीढ़ी ने दूसरी को विरासत के रूप में हस्तांतरित किया। यह तभी संभव हुआ जब यह जिंदा रही।

वास्तव में हिमाचल की 'जुआरी' परंपरा अनूठी और कुछ हटकर है जो भाईचारे का संदेश भी देती है और एक-दूसरे को जोड़े भी रखती है और एक-दूसरे का काम में हाथ भी बँटाती है। यह परंपरा कार्य निष्पादन में सुगमता भी प्रदान करती है और मनोबल भी बढ़ाती है। बदलते दौर में इसका संरक्षण संवर्धन भी समाज के लिए जरूरी है। यह लाहुल घाटी में भी कोरोना के दौर में साबित हो चुका है। सिस्सू वासी जगदीश कटोच के मुताबिक जहाँ इस दौर में किसानों को मजदूर न मिलने पर दिक्कतों का सामना करना पड़ा। लॉक डाउन के दौरान बाहरी राज्यों से मजदूर न आने पर आखिर वही जुआरी काम आई। यह परंपरा यकायक लौट भी आई और लोगों की फसल भी बर्बादी से बच गयी। ऐसे में मजदूरों को अदा किये जाना वाला धन भी घाटी में ही रहा।

क्या है जुआरी या जुआर

जुआरी या जुआर हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों में एक-दूसरे की सामूहिक मदद एवं सहयोग करने की एक परंपरा है। ग्राम्य जीवनशैली से जुड़ी जरूरतों मुख्यतः श्रम का आदान-प्रदान ही जुआरी कहा जा सकता है। खेत खलियान हों या फिर भवन निर्माण से जुड़े कार्य निष्पादन में सामूहिक मदद यानि जुआरी की परंपरा और भूमिका हमेशा अहम रही है। जुआरी के तहत श्रम दिवस के बदले श्रम दिवसों का आदान-प्रदान या चुकता करना इस की बड़ी कड़ी है। देव परंपरा में साझे प्रयास भी जुआरी का एक स्वरूप है लेकिन यहाँ श्रम के बदले श्रम की शर्त लागू नहीं होती। एक छात्र आर्यन प्रभात कहते हैं कि मेरी समझ में आता है कि 'आज तेरी, कल मेरी' बारी।

जुआरी परंपरा उतनी ही पुरानी है जितनी कि पहाड़ की जीवनशैली। भूमि का विकास हो, पारंपारिक कृषि कार्य हो, गृह-निर्माण हो, देव कार्य हों या फिर शादी-विवाह, उत्सव, पर्व, जीवन-मरण किसी भी अवसर पर बिना किसी पारिश्रमिक के एक-दूसरे परिवारों की मदद एवं भागीदारी की परंपरा हिमाचल के कई ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी निभाई जाती है। सहयोग और सहकारिता की यह परंपरा ही जुआरी कहलाती है।

आपसी सहयोग की यह परंपरा जहाँ आर्थिक दृष्टि से कमजोर को भी संबल प्रदान करती है वहीं विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मसलन ग्रामीण क्षेत्रों में गृह निर्माण करने, कृषि कार्य को निपटाने में लोग एक-दूसरे की मदद करते हैं। इसी कड़ी में सांस्कृतिक एवं अन्य समारोह में भी लोग एक-दूसरे के मददगार बनते हैं। ऐसे में मजदूरों को भुगतान न कर पाने वाले आर्थिक दृष्टि से कमजोर परिवारों को भी अपना कार्य निपटाने में आसानी भी होती है और मदद भी मिलती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में जुआरी परंपरा जहाँ कार्य निष्पादन में मददगार साबित होती है वहीं आपसी भाईचारे को बनाए रखने में भी अहम भूमिका निभाती है। हालाँकि पहाड़ की यह साझी विरासत अब धीरे-धीरे पीछे छूटती जा रही है लेकिन इसका महत्व अभी भी कम नहीं हुआ है। कृषि, देव परंपरा, मेले-त्योहार, सामाजिक सांस्कृतिक आदि अलग-अलग अवसरों पर इसके अलग-अलग स्वरूप दिखाई देते हैं। पहाड़ के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली जुआरी के बदलते दौर में कई दिलचस्प स्वरूप किस्से, कहानियों और यादों तक ही सिमट कर रह गए हैं।

नई पीढ़ी तो कुछ दशक पहले तक अपनाई जाने वाली जुआरी परंपरा के कई स्वरूपों से भी अनभिज्ञ है और इस परंपरा में कम रूचि दिखा रही है। जुआरी का स्थान अब दिहाड़ी या मजदूरी के रूप में विकसित होने लगा है। जहाँ भाई चारे की बुनियादें कमजोर पड़ती जा रही हैं।

‘जुआरी’ परंपरा का पीछे छूटना पहाड़ की परंपराओं के लिए लाभकारी साबित नहीं हो सकता और आपसी भाईचारे को बनाए रखने में भी बाधक साबित हो सकता है। वास्तव में हिमाचल की जुआरी परंपरा अनूठी और कुछ हटकर है जो भाईचारे का संदेश भी देती है और एक-दूसरे को जोड़े भी रखती है। बदलते दौर में इसका संरक्षण-संवर्धन भी समाज के लिए जरूरी है। वास्तव में श्रमशक्ति की अपनी जरूरत को साझे प्रयासों से मिलजुल कर पूरा करना ही जुआरी का सबसे बड़ा मकसद है।

जुआरी के स्वरूप

मकान का निर्माण :

रोटी, कपड़े के साथ मकान मानव की पहली आवश्यकता है। कुल्लू, मंडी, सिरमौर चंबा, किन्नौर जनपद सहित हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों के ग्राम्य समाज में मकान का निर्माण करने के लिए आपसी सहयोग की बेहद पुरानी परंपरा रही है। नये मकान का कार्य हो या फिर पुराने मकान को उखाड़ने का कार्य जुआरी या आपसी सहयोग ही बड़ा माध्यम रहा है। आदिकाल से ही जब सर ढांपने के लिए घर की आवश्यकता महसूस की जाने लगी आपसी सहयोग से ही घरों के निर्माण का आगाज हुआ। ऊँचाई वाले क्षेत्रों में अभी भी मकान निर्माण में जुआरी परंपरा का अस्तित्व है।

बेशक बदलती निर्माण शैली के चलते इसका स्वरूप भी बदल गया लेकिन अब भी यह प्रथा कुछ हद तक जिंदा है। सच यह है कि एक-दूसरे के सहयोग से सर ढांपने के लिए घरों के निर्माण का कार्य आसानी से संभव होता रहा है। इसी तरह घर बनते रहे, लोग बसते गए, बसते-बसते कुनबे, बस्तियां बस गयी और गाँव बस गए। कृषि और पशुपालन के दम पर अपनी कुव्वत के मुताबिक छोटे बड़े घरों का निर्माण होता रहा। पहाड़ के गाँव आज भी अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। आशियाने छोटे हों या फिर बड़े लेकिन गाँव के पुराने मकान और उनका स्वरूप धरोहर रूप में आज भी देखने को मिलता है। जुआरी प्रथा का इनके अस्तित्व और निर्माण में बड़ा योगदान है।

जब आर्थिकी कमजोर थी, आय के साधन नहीं थे या फिर सीमित थे, मजदूरों और कारीगरों के लिए भुगतान करने की लोगों की क्षमता नहीं थी ऐसे में 'जुआरी' का रिवाज न होता तो मौजूदा गाँव का स्वरूप ही हमारे सामने न होता। लोगों ने सब कुछ प्रकृति से हासिल किया। खाली जगह देख कर मकान का निर्माण होने लगा। ज़मीन से पत्थर आदि लेकर बुनियाद एवं नोंव आपसी सहयोग से तैयार होती।

इमारती लकड़ी की प्रतिपूर्ति जंगलों से होने लगी। पेड़ कटाई, चिराई और उसकी ढुलाई जुआरी के दम पर ही संभव थी। 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' यह कहावत सटीक बैठती थी। जुआरी से जहाँ काम आसानी से निपट जाता था वहीं जुआरी मनोबल बढ़ाने में भी मददगार बनती। पुराना मकान उखाड़ना हो तो भी जुआरू की सेवाएं काम आसान कर देती हैं और खर्च भी न के बराबर आता है।

संभवतः पहाड़ों में पहले एक दो कमरों के घरों के निर्माण की शुरुआत हुयी। परिवार बड़ा होने के बाद बड़े घरों का निर्माण शुरू हुआ। हस्तशिल्प के विकास और भौगोलिक स्थितियों के अनुसार भवन निर्माण शैली का विकास हुआ। पहाड़ों में बनने वाले मकानों की पांच छह दशक तक शैली ही कुछ और थी। काठकुणी शैली में निर्मित बड़े घर पहाड़ में भौगोलिक दृष्टि से भी किसी अजूबे से कम नहीं लगते थे। हालाँकि अब ऐसे घर कम दिखते हैं लेकिन पहाड़ों के गाँव में पहले ऐसे ही घर हुआ करते थे।

भूकम्परोधी इस काठकुणी (लकड़ी के कोने वाले) तकनीक से बनने वाले इन घरों के निर्माण में लम्बी कड़ियों का प्रयोग किया जाता है कई पुराने घरों में ये पेड़नुमा भी होती थी। इस घर के निर्माण में कड़ी पर पत्थरों की चिनाई की जाती थी और चारों कोने लकड़ी पर लकड़ी से आपस में जुड़े रहते थे। इन मकानों के निचले हिस्से में बनने वाले कमरे को 'खुहड़' (गौशाला) कहा जाता है और इसे पशुओं को रखने में उपयोग लाया जाता था। खुहड़ से ऊपर की मंजिल को 'फहड़' कहा जाता था जहाँ अनाज आदि का भंडारण किया जाता था। भारी बर्फबारी के दौरान घर का यह हिस्सा गर्म होने के कारण सर्दियों में सोने के लिए इस्तेमाल होता था। यह फहड़ वाला हिस्सा सर्दी में ज्यादा गर्म और गर्मी में ठंडा रहता है। इससे ऊपरी मंजिल को 'बाहुड़' कहा जाता है जिसे रहने के लिए प्रमुख कमरा होता है। 'बाहुड़' से ऊपर 'टाहला' होता है जिसे रसोई के लिए

उपयोग में लाया जाता है। ऐसे बैठक के लिए मकानों के चारों ओर एक बरामदा रहता है जिसे 'चाउड़' कहते हैं। सीधी धूप, हवा, बर्फ, पानी आदि से बचाव के लिए भी इसमें प्रावधान रहता है। सदियों से खड़े ऐसे मकान अब देखने को कम ही मिलते हैं।

भूकम्प आने पर भले ही ऐसा पूरा मकान टेढ़ा हो जाये लेकिन ढहने का खतरा कम ही रहता है। ऐसा 1905 के काँगड़ा भूकम्प के दौरान भी साबित हो चुका है। इस भूकम्प से कई जाने गयी थी और कई घर ढह गए थे। ऐसे भी कई मकान हैं जो इस भूकम्प में नहीं ढहे।

बंजार के पास 18वीं सदी में बनी चैहणी कोठी भी एक प्रमाण है। ऊंचाई के लिहाज से पहाड़ का अजूबा कही जाने वाली चैहणी कोठी आज सैलानियों के लिए आकर्षण का केंद्र बनती जा रही है। कहते हैं कि इस कोठी का निर्माण 'ढाडीया' ठाकुर ने एक किले के रूप में किया था। कुल्लू के राजा के साथ ठन जाने के बाद एक युद्ध में वह ठाकुर मारा गया और उसकी पत्नी 'चैणी' के नाम पर गाँव का नाम पड़ा। इतिहास की गवाह चैहणी कोठी के बारे में कहा जाता है कि 1905 के भूकम्प से पहले ये 11 मंजिला थीं। इस भूकम्प में इसकी बीच की चार मंजिले खिसक कर अलग हो गयी और काठकुणी शैली होने के कारण ऊपर की मंजिलें अपने स्थान पर अपने आप स्थिर हो गयी। इसकी ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए पेडनुमा सीढ़ी लगी हुयी है। ऊंचाई के लिहाज से यहाँ का ठाकुर दुआरा, देव भंडार भी यहाँ के वास्तुशिल्प और जुआरी से भवन निर्माण के प्रमाण हैं।



(चैहणी कोठी, चैहणी गाँव पहाड़ के वास्तुशिल्प का गवाह)

पुराने घरों का वजूद खत्म होता जा रहा है। बदलती निर्माण शैली में शहरी क्षेत्र में मकान बनाते समय लेंटर डालने के दिन मजदूरों को दोगुनी दिहाड़ी देने का प्रावधान है लेकिन कार्य एक ही दिन में पूरा करना जरूरी होता है भले ही आधी रात क्यों न हो। ग्रामीण क्षेत्रों में

आज भी लोग जुआरी के माध्यम से ही लेंटर डालने का कार्य करते हैं। लेंटर की जुआरी के लिए अच्छी खासी दावत का इंतजाम किया जाता है। कई लोग इस दिन बकरा आदि काटकर मदिरा भी परोसने लगे हैं।

हिमाचल के कुल्लू जिला के बंजार खंड के दूरस्थ गाँव घलिंगचा के ठेबा राम और मशियार के मोती राम, मझाली के गुमत राम बताते हैं कि उनके क्षेत्र में आज भी मकान बनाने के लिए जुआरी की परंपरा है। सड़क से निर्माण स्थल तक रेत-बजरी, ईंट आदि ढोने के लिए भी लोग जुआरी कर रहे हैं। लेंटर डालने के लिए और छत डालने में भी लोग एक-दूसरे का जुआरी के रूप में सहयोग कर रहे हैं। इनका कहना है कि ऐसा न होने से मजदूरों को दुलाई के लिए रेत, बजरी, ईंट की कीमत से भी ज्यादा भुगतान मजदूरी के रूप में करना पड़ता और निर्माण लागत बहुत बढ़ जाती।

इसलिए कहा जा सकता है कि पहाड़ की जीवन शैली में जुआरी प्रथा सबसे बड़ी ऊर्जा और एक कारक थी जिसने सभ्यताओं को आगे ले जाने में भूमिका अदा की। आशियाने बने तो परिवार विकास की धारा में जुड़ते गए। वास्तव में पहाड़ के लोगों के विकास की बुनियाद जुआरी या आपसी सहयोग से आगे बढ़ने की एक प्रक्रिया ही है। पीढ़ियों के साथ आगे बढ़ती यह प्रक्रिया ज्यादा लम्बी खींचने वाली नहीं है लेकिन यह सत्य है कि मौजूदा दौर में पहुँचने की हमारी राह और सम्पन्नता का रहस्य साझे प्रयास, साझी विरासत जुआरी और आपसी सहयोग से आसान हुई है। जुआरी ने ही 'एक घर अपना' का सपना सच किया है। मकान बनाने के लिए पहले जुआरी ही सबसे बड़ी पूँजी रही है। आज भी पहाड़ी क्षेत्र में मकान बनाने के लिए जुआरी का योगदान है लेकिन पहले के मुकाबले यह कम होता जा रहा है। सड़क से दूर गाँव में आज भी जुआरी एक जरूरत बन कर अपना अस्तित्व बनाए हुए है। एक-दूसरे के सहयोग से मकान निर्माण की प्रक्रिया अभी भी जारी है। इस परंपरा के विलुप्त होने का अंदेशा अब गाँव के लोगों को भी है।

दारगी :

पहाड़ की जीवन शैली कुछ हटकर है। यहाँ का वास्तुशिल्प भी यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप रहा है। सर्दियों में पहाड़ों की सर्दी को ध्यान में रखते हुए यहाँ मकान का निर्माण किया जाता है। संभवतः शुरुआती दौर में मकान आदि बनाने के लिए तकनीक पर विचार हुआ होगा। मानव का पहला मकसद जंगली जानवरों से आत्म बचाव का रहा होगा। इसलिए विशाल शिलाओं, पत्थर लकड़ी आदि का उपयोग किया गया होगा। खुद के लिए चारदीवारी के बाद बारिश, बर्फ और सर्दी से बचाव के लिए छत का प्रचलन शुरू हुआ। यह काम अकेले संभव नहीं था। गुफाओं से चारदीवारी तक पहुँचना साझे प्रयासों से ही संभव हो पाया।

धीरे-धीरे बसेरों की तकनीक बदलती गयी और एक-दूसरे के सहयोग की परंपरा विकसित हुई। हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में गाँव से दूर चारागाहों, और भूमि पर दोघरी (यानि दूसरा छोटा सा मकान) बनाने की परंपरा थी। इन दोघरियों को पशु या भेड़-बकरी रखने के लिए और कभी-कभार अपने लिए उपयोग में लाया जाता है। अपने निजी अनुभवों

के आधार पर कह सकता हूँ कि अब कई दोघरियां सुंदर मकानों में बदल चुकी हैं। ये दोघरियां भी जुआरी प्रथा से ही बनती थी।

कहते हैं, 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'। परिवार बड़े होते गए। पहाड़ों में संयुक्त परिवारों की परंपरा रही है। बीती सदी के आठवें दशक तक कई बड़े संयुक्त परिवार देखने और सुनने को मिलते थे। मेरे अपने गाँव में ऐसे भी परिवार थे जिनमें 20 से ज्यादा सदस्य थे। परिवार के सदस्य बढ़ने से और बढ़ने की सम्भावना के चलते बड़े मकानों का निर्माण लोगों की ज़रूरत बन गया। भावी पीढ़ी के लिए विरासत की सोच ने भी बड़े मकानों की ज़रूरत को बढ़ावा दिया। आज भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में हस्तांतरित हुए पुश्तैनी मकान कई गाँवों में देखने को मिलते हैं।

चारदीवारी के बाद बड़े और अच्छे मकान बनाने के लिए स्थानीय उपलब्ध संसाधनों और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार वास्तुशिल्प का उदगम भी हुआ। बड़े मकान की ज़रूरत को पूरा करने के लिए एक-दूसरे की मदद करने का सिलसिला शुरू हुआ। इसी सिलसिले ने आगे चलकर 'जुआरी' परंपरा का स्वरूप हासिल किया। मकान निर्माण की हर ज़रूरत को पूरा करने के लिए एक-दूसरे का सहयोग करने की परंपरा के साथ ही पहाड़ का वास्तुशिल्प भी निखरता गया और भवन निर्माण की एक शैली का विकास होता चला गया।

अच्छे मकानों की ज़रूरत, पहाड़ के वास्तुशिल्प के मुताबिक निर्माण, आसान भी नहीं था। ऐसे में आधुनिक सुविधाओं के अभाव, धनाभाव के चलते पहले मजदूरों की सेवाएँ लेना बेहद मुश्किल काम था। या यूँ कहें कि पहुँच से कोसों दूर था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पहाड़ों में लकड़ी, पत्थर और गारे से मकानों का निर्माण करने की परंपरा बेहद पुरानी है। आज भी पहाड़ों में काठकुनी शैली (लकड़ी और पत्थर से बनने वाले मकान जिसके कोनो को लकड़ी के जोड़ों से जोड़ा जाता है) में बने मकानों को यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों, मौसम आदि के लिहाज़ से सबसे बेहतरीन माना जाता है। गर्मी के मौसम में ठन्डे, सर्दी के मौसम में गरम। इन घरों के निर्माण के लिए बहुतायत में लकड़ी और पत्थर की ज़रूरत पड़ती है। उसके बाद लिपाई-पुताई के लिए गारे की। यह सब जुआरी से ही संभव है। बुनियाद खोदने, पत्थर तोड़ने, पत्थरों को निर्माण स्थल पर पहुँचाने और मकान बन जाने पर गारे (मिटटी और गोबर का मिश्रण) से लिपाई-पुताई सभी में जुआरी की भूमिका रहती है।

पहाड़ के वास्तुशिल्प को आगे ले जाने में जुआरी के योगदान को कतई नहीं नकारा जा सकता। आज भी पहाड़ों में काठकुनी शैली में बने असंख्य मकान एक दौर के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। बंजार की चैहणी कोठी सरीखी इमारतें, और नोहंडा के शालिंगा, टलिंगा, सैंज के तल्याहरा सहित कई गाँव भौगोलिक लिहाज़ से भी पहाड़ के हस्तशिल्प के अनूठे प्रमाण हैं। जुआरी न होती तो शायद यह पहाड़ी शैली के मकान और ये धरोहर इमारतें, मंदिर आदि भी दृष्टिगोचर न होते।

पहाड़ों में ऐसे मकान बनाना बेहद मुश्किल काम है। इन मकानों के निर्माण के लिए लकड़ी की विशाल कड़ियों का उपयोग किया जाता है। हालाँकि आज इस शैली पर कंक्रीट शैली

हावी हो गयी है लेकिन आज भी विभिन्न वादियों के कई गाँव में ऐसे असंख्य मकान, मंदिर, देहुरे (देवता के बैठने का स्थान) गाँव की आभा को मंडित करते, गौरवान्वित करते हुए पहाड़ के हस्तशिल्प के गवाह बने हुए हैं। पहले मशीनों का युग नहीं था लिहाजा पत्थर निकालने, ढोने, कड़ियों और इमारती लकड़ी के लिए पेड़ कटान, चरान से लेकर मानव श्रमशक्ति का ही उपयोग होता था। इसके लिए ज्यादा लोगों की आवश्यकता होती है। यह सभी कार्य जुआरी के माध्यम से ही निपटाए जाते रहे हैं।

घने जंगलों, पहाड़ की विकट पगडंडियों से गाँव या निर्माण स्थल तक इन भारी भरकम लकड़ी की कड़ियों को पहुँचाना सबसे बड़ी चुनौती था। कुल्लू और मंडी जिला के ऊंचे क्षेत्रों में इन कड़ियों को 'दार' (लकड़ी के पेड़ों से निकाली जाने वाली विशाल कड़ियाँ) कहा जाता है। वास्तव में दार वह मजबूत कड़ियाँ होती हैं जिनके सहारे पत्थर की दीवार, छत टिकाई जाती है। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि इन दारों के ऊपर लकड़ी का फर्श डालकर कमरों और बहुमंजिला इमारतों का निर्माण किया जाता है। इन 'दारों' को ढोने के लिए जो साझी परंपरा जन्मी उसे 'दार' से 'दारगी' कहा जाने लगा। भारी भरकम चीजों को उठाने की समस्त परंपराएं दारगी की श्रेणी में ही आती हैं।

मझाली गाँव के बुजुर्ग तुले राम और नाईनी गाँव के कमली राम बताते हैं कि उबड़-खाबड़ रास्तों से इन पेड़नुमा दारों को ढोना मजबूत कांधों और अच्छी ताकत का काम व जोखिम पूर्ण भी था। कई बार तो कांधे भी बोझ से लाल हो जाते थे। यदा कदा आदमी भी चोटिल हो जाते थे। कई बार ज्यादा भारी लकड़ी को खींच कर या धक्का दे कर भी पहुँचाना पड़ता था। ज्यादा लम्बी और भारी कड़ी होने पर 'बलौहरी' तकनीक का उपयोग होता था। इसमें कड़ी के नीचे लकड़ी बाँध कर दो से अधिक कांधे इसे उठाते थे। पहाड़ के गाँव में बने पुराने मकानों में छत टिकाने के लिए 'प्रधाण' के लिए सबसे भारी विशाल कड़ियाँ उपयोग होती थीं। 'प्रधाण' कंक्रीट के आधुनिक मकानों में पड़ने वाले बीम का ही एक स्वरूप है। जुआरी से मकान बनाने जैसा मुश्किल काम भी आसानी से हो जाता है और धन की भी बचत होती है।

लोग बताते हैं कि दारगी के दौरान मेजबान खूब खातिरदारी करते थे। दारगी में भागीदार सभी लोगों को घी खिलाने की भी एक परंपरा थी। जिस कार्य में ज्यादा बल की जरूरत पड़ती थी वहाँ जोश भरने के लिए झीहरू, हेसरू (विशेष किस्म के स्लोगन) भी गाये जाते थे। अश्लीलता लिए ये स्लोगन भले ही जोश भरने के लिए एक अच्छी तकनीक थी लेकिन अश्लीलता का पुट इसका एक नकारात्मक पहलू भी था। खींचकर लायी जाने वाली भारी वस्तुओं के लिए एक व्यक्ति 'हेसरू' लगाने का काम करता था। वह जोर-जोर से स्लोगन बोलकर हौंसला अफजाई करता और बाकी सब इसके मुताबिक 'हयिसार या हईशा' एक साथ जोर लगाते।

मकान बनाने के लिए पत्थरों को तोड़ने का काम भी 'जुआरी' से होता था और इनके ढेर लगाये जाते थे और 'दारगी' के माध्यम से ही इन्हें निर्माण स्थल तक पहुँचाया जाता था। भवन निर्माण की बदलती शैली, इमारती लकड़ी का अभाव अब दारगी परंपरा का भी आखिरी पड़ाव

पर होने का संकेत दे रहा है या यूँ कहें की दारगी की यह परंपरा भी विलुप्त होने के कगार पर है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

पठियारगी या पठारगी :

छत में लगने वाले पत्थर एवं स्लेट जिन्हें स्थानीय बोली में 'पाट' कहा जाता है को पीठ पर ढोने की परंपरा ही 'पाट' या पीठ से जुड़ी होने के कारण ही सम्भवतः यह पठियारगी कहलाई। कई इलाकों में इसे भी दारगी ही कहा जाता है। पहले इस पठियारगी का बहुत प्रचलन था लेकिन अब यह न के बराबर है।

पहाड़ों में सड़कों का अभाव था। अधिकतर गाँव सड़क से दूर थे। किसी भी चीज को गाँव तक पहुँचाना आसान नहीं था। गाँव में बनने वाले घरों की छतें ढलवाँ होती हैं। पहले पहल छत लकड़ी के चौड़े-चौड़े फटों या तख्तों (लकड़ी के पेड़ से निकाली जाने वाली बड़ी-बड़ी शीट) की होती थीं। जैसे-जैसे दूरदराज के गाँव के परिवारों की आय बढ़ने लगी वैसे-वैसे छत के लिए पत्थर के स्लेट का उपयोग होने लगा। ग्रामीण समाज में स्लेट की छत ने एक दौर में प्रतिस्पर्धा और सम्मान का स्थान लिया था। आर्थिक स्थिति सुधरने के साथ ही अधिकांश लकड़ी की छतों का स्थान स्लेट ने ले लिया। लिहाजा इस दौर में दारगी का महत्व भी बढ़ा और स्वरूप भी बदला। चूँकि स्लेट की छत की परंपरा को आर्थिक सम्पन्नता के नजरिए से देखा जाने लगा ऐसे में खान-पान में बकरों आदि का प्रचलन भी बढ़ता गया।

पहाड़ में सर्दियों में जमकर बर्फबारी के चलते और मक्की आदि सुखाने के लिए बड़े आकार के स्लेट होना भी जरूरी था। इन स्लेटों को सुदूर गाँव तक जुआरी या पठियारगी के बिना पहुँचाना संभव ही नहीं था। मजदूरी के फेर में इनकी लागत कई गुना बढ़ जाती जो तत्कालीन आर्थिक स्थितियों में झेल पाना असंभव था।

कुल्लू के बंजार क्षेत्र के मशियार, श्रीकोट, गाडागुशैनी, खौडली, टील, सुधरानी आदि के लोगों के मुताबिक पठियारगी, पठियारी या स्लेट की दारगी जुआरी का सबसे बड़ा आयोजन हुआ करता था। कई गाँव के लिए एक आदमी एक ही स्लेट पहुँचा सकता था। कुछ गाँव के लिए दो तीन चक्कर भी संभव थे। कभी-कभार दो दिन भी लगते थे। खास बात यह थी कि स्लेट ढोने की इस जुआरी में जहाँ आस-पास के सभी गाँव के लोग मनमुटाव, जात-पात से ऊपर उठकर शरीक होते थे वहीं सगे-सम्बन्धी भी साथ जुड़ते थे। बुजुर्गों का कहना है कि पीठ पर बोझ, तपती धूप, खड़ी चढ़ाई और कई घंटों का सफ़र थका देने वाला होता था ऐसे में कई बार वाद्ययंत्र भी इस पठियारगी में शामिल रहते थे ताकि सुर लहरियों संग मनोरंजन भी हो और थकान भी महसूस न हो।

कुछ बुजुर्ग बताते हैं कि पहले पहल तो स्लेट की दारगी या पठियारगी मीलों दूर से होती थी जिसमें दो तीन दिन भी लगते थे। आमतौर पर छत में पड़ने वाले स्लेट कुछ जगह की खास किस्म की खानों से ही निकलते हैं। मसलन काले रंग के स्लेट मंडी जिला के पंडोह क्षेत्र में, नीले से रंग के बंजार के सेरी और गाडागुशैनी के डिम्बरचाहडी और सफ़ेद रंग के सैंज क्षेत्र की खानों

से निकलते हैं। लोग इन्हीं खानों से स्लेट खरीदते थे और सड़कों के अभाव में पीठ पर ढोने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं था। लिहाजा जुआरी परंपरा के बिना सुदूर गाँव तक इन्हें पहुँचाना संभव ही नहीं था।

श्रीकोट के कुलदीप कहते हैं कि जब उन्होंने अपना पुराना मकान उखाड़ा तो छत पर लगाये गए स्लेट उतारने में चार पांच लोगों को अपना बल प्रयोग करना पड़ा। वह कहते हैं कि उन्हें खुद भी हैरानी हुई कि दूर पलदी नामक गाँव से लाकर यहाँ कैसे पहुँचाए गए होंगे। उनका कहना है कि यह भी जुआरी का कमाल था। उनके अनुसार ऐसा बड़ा स्लेट पहुँचाने वाले को पगड़ी पहनाई जाती थी। कई बार ये दो से अधिक लोग भी होते थे।

स्लेट आदि की खेप गाँव में पहुँचने के बाद शाम को नाटी आदि का आयोजन भी मनोरंजन के साथ-साथ थकान दूर करने में मददगार बनता। पठीयारगी के दौरान निर्धारित भार से दोगुना या ज्यादा भार उठाने वाले को सम्मान स्वरूप खाने में 'दोगी' भी दी जाती थी। दोगी खाने में डबल हिस्सा कही जा सकती है। वह मीट हो या फिर घी एक के बदले दो कड़छी (डबल) ही दोगी है या यूँ कहा जा सकता है कि अन्य लोगों से अधिक। पठीयारगी के दौरान दावत का आयोजन होता। ज्यादा लोग होने पर बकरा आदि काट कर मांसाहारी दावत का आयोजन भी खूब होता था। इस दावत में न केवल जुआरू बल्कि गाँव के लोग, सगे-संबंधी भी शरीक होते।

चूँकि पुरुष पठीयारगी में शामिल होते थे ऐसे में खान-पान का जिम्मा महिलाएं संभालती थीं। खान-पान की व्यवस्था में न केवल गाँव की महिलाएं बल्कि नाती रिश्तेदार भी शामिल होते थे। डोलमा देवी बताती हैं कि कुछ जगह स्लेट की दारगी के दौरान पीने का पानी भी दूर से ढोना पड़ता था। ऐसे में तीन-चार महिलाएं दिनभर पानी ढोने का ही काम करती थीं। वह कहती हैं कि इसी बहाने अपनों से मिलना-जुलना और बतियाना भी होता था और शौक हुआ तो नाचने गाने जैसा मनोरंजन भी हो जाता।

कुल्लू जिला की एक दूरदराज पंचायत मशियार के युवा मोती राम, राम लाल, पूरण आदि के अनुसार अब ग्राम्य जीवन शैली का स्वरूप बदलता जा रहा है। जुआरू की जगह मजदूरों ने ले ली है। स्लेट और लकड़ी की छतों पर लोहे की चादरें और कंक्रीट के लेंटर कब्जा करते जा रहे हैं। सड़कें गाँव की दहलीज तक पहुँच चुकी हैं। सुधरती माली हालत ने जीवन शैली को नई दिशा दी है। इनका कहना है कि स्लेट की दारगी या पथियारगी में हिस्सा लेने का उनका भी अनुभव है, इनके लिए उस समय यह बोझ भी किसी रोमांच से कम नहीं था। ये मानते हैं कि ढोल नगाड़ों, शहनाई, करनाल (एक वाद्ययंत्र) आदि की सुर लहरियों संग उस दारगी या पठीयारगी के वह नज़ारे न तो अब दिखते हैं और न कभी भविष्य में दिखेंगे। बदलती जीवन शैली में आ रहा बदलाव भी यही कहता दिखाई दे रहा है।

जहाँ सड़कें गाँव की दहलीज छू रहीं हैं वहाँ तेजी से कंक्रीट से बने मकानों का निर्माण जोर पकड़ रहा है। अब स्लेट की मांग छत के लिए बहुत ही कम रह गयी है। बाज़ार में स्लेट के रंग और आकार की स्टील चादरों के डिजाईन भी अब उपलब्ध हैं। लोग लेंटर आदि को प्रोत्साहन

दे रहे हैं। कई गाँव में स्लेट की छत स्टील की चादरों में परिवर्तित होती दिखाई दे रही हैं। ऐसे भी कई प्रमाण दिख रहे हैं जहाँ जुआरी की बदौलत मुश्किल से पहुंचाए गए स्लेट छतों से उतार दिए गए हैं और टीन या स्टील की शीटों से बनी छतें काबिज हो रही हैं। बदलती निर्माण शैली और बदलाव की बयार में पठायारगी भी कहीं दूर खो गयी है।

कृषि में जुआरी की भूमिका

पहाड़ की कृषि, जीवनशैली, रहन-सहन, खान-पान सब मौसम आधारित है। कार्य की अधिकता या कमी भी मौसम के अनुरूप ही चलती है। फसल चक्र भी मौसम आधारित है। लिहाजा सही समय पर फसल बोने से लेकर, फसल बटोरने तक सभी मौसम के अनुसार समयबद्ध है। ज्यादा हाथ ज्यादा काम से ही यहाँ कृषि संभव है। कृषि ही पहाड़ की जीवनशैली, जीवन-यापन और रोजी का बड़ा साधन है।

पीढ़ी-दर-पीढ़ी कृषि क्षेत्र में जुआरी की सबसे बड़ी भूमिका रही है। बेशक कुछ कृषि कार्यों के लिए अभी भी जुआरी या जुआर सहारा बनी हुई है लेकिन ज्यादातर कार्य के लिए अब ग्रामीणों को भी मजदूरों पर निर्भर होना पड़ रहा है। कृषि क्षेत्र में जुआरी की भूमिका कम होने का असर लोगों की आर्थिकी पर भी पड़ता दिखाई दे रहा है। जुआरी हर वर्ग के लिए एक सहारा थी। मजदूरी महंगी होने और जुआरी परंपरा के हाशिये पर जाने की सबसे ज्यादा मार आर्थिक दृष्टि से कमजोर परिवार पर पड़ रही है।

एक ऐसा भी दौर था कि कृषि क्षेत्र में भूमि सुधार, ज़मीन तैयार करने से लेकर बुआई और फसल तैयार होने तक लोग एक-दूसरे के मददगार बन ज्यादा हाथों से काम को सुलभ बनाते थे। एक-दूसरे की मदद और आपसी सहयोग से काम आसान होता था। कृषि को आजीविका का मुख्य जरिया बनाने में जुआरी परंपरा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गाँव में भूमि को सुधारने के लिए उसे बंजर रखा जाता था और सर्दियों में इसके सुधार का काम किया जाता था और इसमें जुआरू भी शामिल होते थे। इस गतिविधि को कुछ क्षेत्रों में 'वास्त' भी कहा जाता है।

खनियाती :

बंजर या पथरीली भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए काफी समय लगता था और इसके लिए ज्यादा श्रमशक्ति की ज़रूरत पड़ती थी। ऐसे में इस कार्य के लिए खनियाती (खोदने का काम) होती थी अर्थात् जुआरे मदद करते थे। बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना ही खनियाती है।

ज़मीन को कृषि योग्य बनाने और बुआई के लिए परिवार जहाँ कड़ी मेहनत करता था वहीं यदाकदा जुआरी की भी भूमिका रहती थी। लोगों की माने तो गाँव के लोग खेत बनाने से लेकर बुआई, निराई-गुड़ाई के लिए जुआरू बन एक-दूसरे का काम हल्का करते थे। जुआरी न होती तो यह कार्य एक परिवार के लिए मुश्किल ही नहीं नामुमकिन होता। कुछ हद तक निराई-गुड़ाई के लिए अभी भी जुआरी प्रथा का प्रचलन है। पहले पहाड़ों में मुख्यतः गेंहू, जौ, मक्की आदि की

फसलें ही बोई जाती थीं लेकिन अब पहाड़ की कृषि फल और सब्जी उत्पादन की राह में भी है।

कलवारी के चरंजी लाल बताते हैं कि पहले खेती में खेत जोतने के लिए भी हल-बैल सहित जुआरी होती थी। ऐसे में बुआई के लिए दो-तीन जोड़ी हल-बैल और कुछ अन्य लोगों की सेवाएं ली जाती थी। इससे ज्यादा भूमि होने पर बुआई में सुविधा होती थी। निराई-गुड़ाई के लिए भी महिलाएं और लड़कियां हाथ बंटती हैं इससे भी बारी-बारी से सब का काम आसानी से निपट जाता है। गेंहूँ जौ की कटाई में भी महिलाएं और लड़कियां बड़ी भूमिका निभाती हैं।

कुछ अनुभवी और उम्रदराज लोगों की राय में फसल कटाई का काम हो या फिर मक्की तुड़ान, उसे खेत से घर पहुँचाना, उसका छिलका उतारना या फिर 'छलियाठ' (मक्की के सूखे पौधे, घास) को समेटना और फिर सर्दी के मौसम से पहले बुआई जुआरी की बदौलत आसानी से सब काम हो जाता था।

अब जुआरी की परंपरा कम होने से पुश्तैनी परंपरागत फसलों के विलुप्तता की ओर जाने और उत्पादन कम होने का असर दिखने लगा है। पहले संयुक्त और बड़े परिवार थे और अब परिवार छोटे और अलग-अलग होने से पहाड़ में बसने वाले ग्रामीण अपनी पिछली पीढ़ी के मुकाबले अनाज, दाल आदि फसल उत्पादन में पिछड़ते जा रहे हैं। पुश्तैनी फसलें अब या तो विलुप्त होने की कगार पर हैं या फिर बहुत से अनाज आदि विलुप्त हो चुके हैं।

कुल्लू जिला के बंजार उपमंडल की तुंग पंचायत ऐतिहासिक संदर्भों में अलग महत्व रखती है। इतिहास में दर्ज घटनाक्रमों के अनुसार अंग्रेजों के आगमन से पहले 1857 तक समूचा पहाड़ी क्षेत्र महाराजा रणजीत सिंह के अधीन रहा। 'हचिसन और वोगल' ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ पंजाब हिल स्टेट्स' में 'तुंग' का हवाला देते हुए इतिहास की एक घटना का जिक्र किया है। उनके मुताबिक यहाँ सिख सेना की सैन्य चौकी हुआ करती थी। 1839 के आस-पास सिख सेना ने ऊपरी शिमला होते हुए बुशेहर आदि क्षेत्र के मंदिरों का सोना चांदी लूटा और तुंग की चौकी में रखा। इसी दौरान तत्कालीन कुल्लू के राजा को कैद कर इसी चौकी में रखा गया। तब यहाँ के लोगों ने चौकी पर चढ़ाई की और राजा को घात लगा कर और मानव श्रृंखला बनाकर कैद से छुड़ाया था। लोगों ने चौकी को आग लगा दी। कुछ सैनिक मारे गए और कुछ भाग खड़े हुए। कुछ को लोगों ने प्रश्रय देकर बचाया। लोगों द्वारा बचाए गए सिख सैनिकों के वंशज आज भी बंजार के पास बसे हुए हैं। कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक संदर्भों में तुंग का अपना स्थान रहा है।

इसी तुंग पंचायत का सबसे बड़ा गाँव चिपनी है। गाँव के एक छोर में यहाँ की आस्था स्थली, देव मंदिर है। लोग कहते हैं कि यह वह स्थान है जहाँ सच झूठ का फैसला होता है। देवता लक्ष्मी नारायण का मंदिर और यहाँ के मेले इसकी पहचान हैं। सड़क से पगडंडियां होकर करीब एक डेढ़ घंटे की चढ़ाई पार कर सौ से भी ज्यादा परिवारों का चिपनी गाँव आज भी जुआरी को जीवंत रखे हुए है। गाँव के लोग सेब और नाशपती के उत्पादन के अलावा अब सब्जी की खेती को भी तवज्जो देने लगे हैं। इस गाँव में अभी भी मक्की, राजमाह (एक दाल की किस्म), गेंहूँ,

जौ आदि का उत्पादन बहुतायत में होता है।

गाँव के मान सिंह, गोकुल चंद, महेन्द्र आदि के मुताबिक एक-दूसरे की मदद करने का सिलसिला यहाँ अभी भी जारी है। यहाँ इसे 'पाही' (बारी-बारी) भी कहा जाता है। हालाँकि यहाँ भी कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए जुआरी का रिवाज अब भी है लेकिन कुछ हद तक पहले के मुकाबले कम होता जा रहा है। लोगों के अनुसार यहाँ बागवानी में भी जुआरी का प्रचलन है। पौधारोपण हो या फिर सेब आदि का तुडान यहाँ पाही या जुआरी चलती है। जुआरी के मुताबिक श्रम के बदले श्रम की परंपरा होती है। लोग बताते हैं कि यदि कोई अपना श्रम दिवस चुका पाने में असमर्थ रहता है तो उसे उसके बदले में मजदूर की दिहाड़ी अदा करनी होती है। लोगों की राय में अभी तक सड़क जैसी सुविधा न होने के कारण कृषि उत्पादों को बाजार तक पहुँचाना महंगा पड़ता है। सड़क गाँव में पहुँचने से लोगों का रुझान फल सब्जियों की ओर ज़्यादा बढ़ेगा। परंपरागत फसलों से विमुख होने से जुआरी प्रथा अपने आप कम होती चली जाएगी। अब जुआरी में भूमि सुधार और पौधारोपण जैसी गतिविधियाँ सरकार की योजना मनरेगा के तहत भी होने लगी हैं।

एक-दूसरे की मदद से कृषि कार्य निष्पादन की इस परंपरा की वजह से बंजर खेत कम ही दिखते थे। कृषि की नयी तकनीकों, आधुनिक कृषि यंत्रों, कृषि के बदलते स्वरूप ने, नकदी फसलों, फल सब्जी की ओर बढ़ते रुझान ने जुआरी को कमजोर कर दिया है। जुआरी की अपेक्षा अब लोग मजदूरों को तवज्जो देने लगे हैं। पारिश्रमिक रहित काम करने वाली जुआरी अब पीछे छूटती जा रही है। अब लोगों की मानसिकता में भी बदलाव की झलक दिखने लगी है। जुआरी की अपेक्षा अब लोगों का रुझान दिहाड़ी या धन की ओर है। कमोबेश यह प्रवृत्ति आपसी भाईचारे पर भारी पड़ रही है। हिमाचल के कबायली क्षेत्र लाहुल के एक किसान एवं सेवानिवृत्त शिक्षक कहते हैं कि पहले लाहुल का जीवन बेहद कठोर, संघर्षपूर्ण एवं विकट था। यहाँ के कई लोग घोड़े खच्चर रखते थे और लेह लद्दाख से लेकर पंजाब तत्कालीन लाहौर तक कारोबार करते थे। उनके मुताबिक लाहुल में एक ही फसल होती थी। उस दौर में मजदूर नहीं होते थे।

उन्होंने निजी अनुभव साझा करते हुए बताया कि ऐसे ही कुछ कारोबारी शहर से चावल लेकर आते थे और चावल की दावत के बहाने हर कोई उनकी जुआरी करने के लिए उत्सुक रहता था। वह कहते हैं कि वह लोग कामकाज के लिए बाहर घूमा करते थे। वे शिक्षा का महत्व समझने लगे थे। लिहाजा बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के दौरान जुआरी ने ही खेतों को खजाना बना दिया। आज भी लाहुल को आलू, मटर उत्पादन में अग्रणी माना जाता है और कबायली क्षेत्र की आर्थिकी को बेहतर बनाने में इन फसलों का बड़ा योगदान है।

रोहतांग के उस पार पहले गाँव सिस्सू के पूर्व प्रधान जगदीश कटोच बताते हैं कि शिक्षा के विस्तार ने लाहुल वासियों की जिंदगी बदल दी। लोग नौकरी पेशा हो गए, लोगों के पास धन आने लगा और आर्थिकी मजबूत हुई। कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए मजदूरों की सेवाएँ लेने की परंपरा शुरू हुई। लोग जुआरी को भूल गए। घाटी में नेपाल, बिहार सहित कुछ राज्यों से बड़ी तादाद में आने वाले मजदूर कृषि कार्यों में मददगार बने। बेशक आज लाहुल आलू और मटर

उत्पादन में अग्रणी है लेकिन बाहरी मजदूरों का इसमें अब बाहरी राज्यों या नेपाल से आने वाले मजदूरों का बड़ा योगदान रहता है। लोगों की आय में होता इजाफा भी जुआरी को दरकिनार कर मजदूरों की सेवाएं लेने के लिए कारक बना।

उनके मुताबिक कोरोना काल में लॉक डाउन के चलते घाटी के लोगों को खासी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। बाहरी मजदूरों के न आ पाने से फसल खराब होने के खौफ से एक बार फिर घाटी में जुआरी विकल्प के रूप में सामने आई और वही पुरातन परंपरा लाभकारी साबित हुई। उनके मुताबिक घाटी का बहुत सा धन भी घाटी में ही रहा। मजदूरी के रूप में बाहर जाने वाले लाखों रुपये बच गए।

आधुनिकता भले ही विकास की राहों को आसान बना रही हो। धनलोलुपता की प्रवृत्ति एक परंपरा, एक ऐसी विरासत को हाशिये पर धकेल रही है जहाँ आपसी भाईचारा और सद्भाव साफ दिखाई देता था। जुआरी का अंत अलग-अलग परिवारों को अपने तक सिमटने की राह ले जा रहा है। कृषि क्षेत्र में जुआरी का कम होना पहाड़ के परिवारों की कृषि से पूरी होने वाली जरूरतों के लिए आत्मनिर्भरता को गड़बड़ा सकता है।

कुल्लू जिला के सेब के बागानों में भी पहले फलों को तोड़ने के लिए जुआरी की परंपरा थी। सेब के लिए गढ़े खोदना, पेड़ लगाना हर जगह अब पैसे का बोलबाला बढ़ता जा रहा है। सब्जी उत्पादन भी अब मजदूरी की ओर बढ़ रहा है। अब यह काम सिर्फ पैसे के लिए होता है। जुआरी के हटने की वजह से या रूचि खत्म होने के चलते परिवार और गाँव का पैसा भी बाहर जाने लगा है। कई ऐसे परिवार भी हैं जिनका रुझान कृषि पर लगातार घटता जा रहा है। लिहाजा बंजर भूमि का क्षेत्र बढ़ रहा है।

बंजार उपमंडल की प्राकृतिक नजारों से ओतप्रोत, पर्वतांचल में बसी शिल्ही पंचायत की पहचान बेहतरीन सेब उत्पादन के लिए है। सर्दी में बर्फ से लकड़क होना इस क्षेत्र में सेब के लिए संजीवनी माना जाता है। सेब ही इस पंचायत की आय और सम्पन्नता का आधार है। शिल्ही पंचायत के प्रगतिशील बागवान एवं उप-प्रधान मोहर सिंह, युवा बागवान दलीप कायथ, भीमसैन ने बताया कि वे अपने क्षेत्र में सेब तोड़ने के लिए जुआरी का प्रयोग कर रहे हैं। यदि फलों के उसी मौसम में जुआरी के रूप में लिया गया श्रम दिवस वापिस नहीं किया तो वह दिन दूसरे साल फलों के मौसम में ही चुकता करना जरूरी है। इन युवाओं का कहना है कि यह प्रयोग सफल साबित हो रहा है। इससे बाहरी मजदूरों को मजदूरी के रूप में दिया जाने वाला धन भी गाँव में या परिवार के पास ही रहता है और उत्पादन लागत या मंडी तक पहुँचाने की लागत भी घटती है।

पहाड़ की कृषि में आलू की खेती के लिए बुआई और आलू निकालने के समय भी जुआरी की जाती थी। कृषि कार्यों में जहाँ भी ज्यादा श्रम शक्ति की आवश्यकता होती थी वह जुआरी से ही पूरी की जाती थी। कृषि क्षेत्र में जुआरी का बड़ा योगदान रहता है भले ही वह कम लोगों की क्यों न हो। पहाड़ की जीवन शैली में जुआरी प्रथा ने उत्कृष्ट योगदान दिया है। जुआरी के घटते प्रचलन का असर पहाड़ की कृषि पर भी दिखने लगा है। यहाँ की भूमि या तो बगीचों में परिवर्तित हो गयी

है या फिर बहुतायत में बिना बुआई के खाली रह रही है। मजदूरों का महंगा होना और जुआरी का प्रचलन कम होने से यहाँ की उपजाऊ धरा भी खुद को उपेक्षित महसूस कर रही है। बेशक फल-सब्जी उत्पादन से किसानों कि आय बढ़ रही है लेकिन जुआरी सरीखी प्रथाओं का हाशिये पर जाना पहाड़ की कृषि के लिए नुकसानदेह साबित होना तो तय है। जुआरी के प्रति उदासीनता आने वाले समय में पहाड़ की कृषि में मजदूरी का महत्व बढ़ने के साफ संकेत दे रही है।

हल बैल के साथ जुआरी :

एक बुजुर्ग के अनुभव के अनुसार पहले फसल बुआई आदि के लिए दो तीन जोड़ी हल-बैल का उपयोग भी होता था। कई बार बैल भी जुआरी में भूमिका निभाते थे। वे बताते हैं कि उस दिन जिस दिन एक से ज्यादा हल-बैल की जोड़ियाँ होती थी तो लोग भी ज्यादा होते थे तब खाना किल्टे में ढोकर कार्यस्थल पर पहुँचाना होता था। (किल्टा एक विशेष प्रकार की लकड़ी से बना हुआ पात्र जिसमें दो रस्सियाँ लगी रहती हैं। इसमें गोबर घास या अन्य वस्तुएं डाल कर पीठ से ढोयी जाती हैं और रस्सियों किल्टे को कंधे के साथ टिकाये रखती हैं) कई बार दो परिवारों के पास एक-एक बैल होने पर हल जोतने के लिए जुआरी होती थी जिसमें दोनों परिवार हल-बैल सहित एक-दूसरे की मदद करते थे। हल-बैल के साथ जुआरी की ये रस्म भी अब लगभग खत्म होने को है। ऊँचे क्षेत्रों में अभी भी कुछ हद तक यह परंपरा जीवंत है लेकिन अब निचले इलाकों में हल-बैल सहित जुआरी का स्थान भी दिहाड़ी एवं मजदूरी ने ले लिया है। पाँवर टिलर आने के बाद अब दिहाड़ी पर खेत जोतने का सिलसिला भी शुरू हो चुका है।

रूहनी या धान की रोपाई :

कृषि क्षेत्र में अलग-अलग क्षेत्रों की अलग-अलग विधाएं भी हैं। हिमाचल के रामपुर के समीप कुल्लू जिला के बाहरी सराज के कोयल और बायल गाँव कभी बासमती के लिए मशहूर होते थे यहाँ लोगों के बड़े-बड़े क्यार हैं। निरमंड के कई क्षेत्रों में पहले धान की खूब खेती होती थी। अब यह सिमटती जा रही है। कुल्लू की उड़ी घाटी के लाल चावल आज भी उत्कृष्ट माने जाते हैं। जमीनों के बगीचों में परिवर्तित होने से अब इस लाल चावल की मांग बेशक ज्यादा हो लेकिन इनका उत्पादन बहुत ही कम रह गया है। धान उत्पादन के लिहाज से जहाँ कई क्षेत्र आत्मनिर्भर थे वहीं आज बाहर से आने वाले चावल की खपत बढ़ गयी है। कुल्लू से मनाली की ओर जिसे उड़ी घाटी के नाम से जाना जाता है कभी लाल चावल यहाँ का गौरव था। लोग ये चावल खुद भी खाते थे और अतिथियों को भी खिलाते थे। तो तीन दशक पहले तक इन चावलों का रुतबा बेहतरीन एवं विशेष पकवानों में था।

कोयल बायल की बासमती भी अब नाम तक सिमटती जा रही है। करसोग क्षेत्र में भी धान उत्पादन में काफी गिरावट आई है। कुल्लू के सैंज के देहुरी, उड़ी घाटी, आनी, निरमंड सहित कई गाँव के आस-पास मेंढ लगे बड़े-बड़े खेत दिखते हैं। कहते हैं कि यहाँ पहले चावल का

उत्पादन खूब होता था। अब ये खेत बगीचों में परिवर्तित हो कर भी चावल उत्पादन और रूह्नी की गवाही देते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में अब चावल उत्पादन नाममात्र का ही रह गया है। लोगों का रुझान या तो सब्जी उत्पादन की ओर या फिर फलोत्पादन की ओर बढ़ गया है। पहाड़ों में धान रोपाई भी जुआर या जुआरी के बिना संभव नहीं है।

उड़ी घाटी में धान की रोपाई को एक उत्सव के रूप में लिया जाता था। मनाली के पास बड़ाग्रां गाँव की समाजसेवी लता कटोच बताती हैं कि आषाढ महीने में उनके गाँव में भी रूह्नी उत्सव मनाया जाता है। ये परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों से चली आ रही है। गाँव में रूह्नी उत्सव मनाया जाता है। वह बताती हैं कि यह उत्सव देवता जमलू के सम्मान में आयोजित किया जाता है। इसमें या तो देवता स्वयं उपस्थिति दर्ज करते हैं या फिर उनका कोई निशान आयोजन स्थल पर रहता है। इस उत्सव में हारियान (आसपास के देवता के समस्त अनुयायी) भी शामिल होते हैं। धान रोपाई का ये उत्सव सभी परिवार मिलजुल कर हर्षोल्लास से मनाते हैं। वह बताती हैं कि बड़ाग्रां गाँव में आयोजित किया जाने वाला यह उत्सव, देवता जमलू (ऋषि जमदग्नि) के बारह प्रमुख उत्सवों में से धान रोपाई का उत्सव भी एक है।

कुल्लू की सैंज घाटी के शेंशर गाँव के मोहिंदर और देहुरी गाँव के मान चंद, नारायण चौहान आदि बताते हैं कि उनके यहाँ भी रूह्नी त्यौहार के रूप में मनाई जाती है और इसमें बड़ी जुआरी होती है। हालाँकि अब बगीचे लगने से पहले के मुकाबले रूह्नी की जुआरी बहुत कम होती है। देहुरी में देवता पुंडरिक ऋषि के अपने क्यार (धान के खेत) हैं। यहाँ रूह्नी के वक्र देवता वाद्ययंत्रों सहित स्वयं उपस्थित रहते हैं। गाँव की तमाम महिलाएं (हर घर से कम-से-कम एक) जुआरी के रूप में देवता के धान की रोपाई करती हैं। उस दिन यहाँ उत्सव-सा माहौल होता है।



(कुल्लू जिला की सैंज घाटी के देहुरी गाँव में देवता पुण्डरिक ऋषि संग रूह्नी की जुआरी)

पानी से भरे बड़े-बड़े क्यार (धान के खेत) कई जगह इन्हें रोपा भी कहा जाता है में रूह्नी यानि धान की रोपाई करने के लिए लोग जुआरी परंपरा का सहारा लेते हैं। पहले क्यार को रूह्नी यानि रोपाई के लिए तैयार किया जाता है। इसके लिए भी जुआरी होती है। रूह्नी के दिन लोग रोपाई के कार्य को अंजाम देते हैं और हंसी-मजाक के साथ मनोरंजन भी खूब करते हैं। नंगे पांव पानी के बीच धान की रोपाई या रूह्नी भी सबसे मुश्किल काम माना जाता है। पानी के बीच धान की रोपाई करते हुए खूब हंसी मजाक और मनोरंजन का माहौल बनता है।

इस अवसर पर विशेष किस्म के गीत भी गाये जाते हैं और लोग नाच कर खूब आनंदित होते हैं। जुआरी के बहाने यह अवसर मस्ती के उत्सव के रूप में आयोजित किया जाता था। अब यह परंपरा भी आंशिक ही रह गयी है। रूह्नी के दौरान विशेष गीत गाए जाते हैं और लोग खूब नाचते गाते हैं। कमोबेश धान रोपाई के लिए प्रदेश के दूसरे हिस्सों में भी जुआरी स्वरूप में एकरूपता सी दिखती है। यहाँ भी साझे प्रयासों से इस कार्य को अंजाम दिया जाता है। अब धान की खेती कम होने से रूह्नी की जुआरी आंशिक ही रह गयी है। रूह्नी के दौरान गाये जाने वाले गीत भी अब विलुप्त होने को हैं।

जलौऊली :

कुल्लू जिला की सैंज घाटी के बनोगी पंचायत के देहुरी गाँव में जौ आदि की फसल कटाई के उपरान्त एक उत्सव का आयोजन किया जाता है जिसे जलौऊली कहा जाता है। यहाँ जौ की फसल कटाई के लिए पहले बड़े पैमाने पर जुआरी होती थी। गाँव के मान चंद बताते हैं कि जुआरी से पूरे गाँव में बारी बारी से फसल काटी जाती थी। और जब समूचे गाँव और आस-पास के गाँव में फसल कटाई का काम पूरा हो जाता था तो इस उत्सव का आयोजन किया जाता था। स्थानीय बोली में 'जलौऊली' का शाब्दिक अर्थ जौ की फसल काटने से जुड़ा हुआ है। इस उत्सव के लिए एक खेत में जौ के गट्टर और बोझा बना कर एक खेत में रखा जाता है। तब गाँव के लोग देवता पुण्डरीक ऋषि सहित इस खेत में आते हैं। एक समुदाय का व्यक्ति जौ का बोझा पीठ पर उठा कर खूब नृत्य करता है। देवता भी झूमते हैं और लोग भी अच्छी फसल होने और कटाई का काम पूरा होने का जश्न मानते हैं। इस सांझे उत्सव में भी रूह्नी आदि की तरह गीत गाये जाते हैं और लोग खूब नाचते गाते आनंदित होते हैं। मान चंद आदि का कहना है कि अब जौ की बुआई कम हो रही है और जुआरी का रिवाज भी कम हो रहा है लेकिन अभी तक गाँव में इस उत्सव को मनाने की परंपरा बरकरार है।

घास कटाई के लिए जुआरी

हिमाचल के पहाड़ों में तीन चार दशक पहले तक जमकर बर्फबारी होती थी। कृषि के साथ-साथ लोगों का मुख्य पेशा पशुपालन भी रहा है। ढोर डंगर, भेड़ बकरियों के लिए सर्दियों के मौसम के लिए चारे का इंतजाम एवं भंडारण भी एक चुनौती हुआ करता था। खेत खलियान का घास समेटने

के उपरान्त करीब चार-पांच महीनों के लिए घास का इंतजाम करना आसान नहीं है। कमोबेश हिमाचल प्रदेश के ग्रामीण और ऊंचाई वाले सभी क्षेत्रों की स्थिति एक-सी थी और अब भी है।

कुल्लू और मंडी के पहाड़ों में कुछ ऐसे भूखंड होते हैं जिन पर लोगों का घास एवं चारे का पुश्तैनी अधिकार है। यह भूखंड 'घासणी' या 'घायिनी' कहलाते हैं। आमतौर पर ये घासनियाँ गाँव से काफी दूर होती हैं। घासणी में घास कटाई के लिए महिलाएं जुआरी के रूप में सहयोग करती हैं। बंजार क्षेत्र के एक गाँव के लोग बताते हैं कि घास काटने के लिए जुआरियाँ यानि महिलाएं पौ फटने से पहले ही घर से निकलती हैं और देर शाम घर लौटती हैं। पूरे दिन के खाने पीने के लिए भोजन, मोड़ी (भुने हुए गेहूँ आदि) आदि भी घर से बना कर ले जाते हैं। घास कटाई का काम अधिकांशतः महिलाएं ही करती हैं जबकि दुलाई का काम पुरुष ज्यादा करते हैं। पहले पुरुष भी घास कटाई की जुआरी में हिस्सा लेते थे।

समाज सेवी वृकमु नेगी बताती हैं कि घास कटाई के दौरान जहाँ काम होता था वहीं भरपूर मनोरंजन भी होता था। वह बताती हैं कि विश्राम के पलों में कई महिलाएं 'लामण', 'भौंअरू' या 'बाह्मणु' (ऊँची आवाज़ में गाने कि एक पहाड़ी विधा) आदि गाकर दूर किसी धार पर दूसरों से गीत शैली में संवाद कायम किया करती थीं। इतना ही नहीं 'लामण' या 'बाह्मणु' के माध्यम से खूब जुबानी मुकाबला भी होता था। गीत शैली में ऊँची आवाज़ में एक-दूसरे से संवाद कायम करने की विधा ही लामन या बाह्मणु है। कई बार तो इसी के माध्यम से प्यार का इजहार भी होता था और प्यार भी परवान चढ़ जाता था। हालाँकि अब दूर-पार से लामण आदि का प्रचलन कम हो गया है लेकिन मेले-त्योहारों और नाटियों (पहाड़ी नृत्य) में अब भी इन्हें सुना जा सकता है। स्वैच्छिक संगठन से जुड़े गोपाल कृष्ण कहते हैं कि एक ऐसा भी दौर था जब दूर-पार से संपर्क कायम करने एवं सन्देश के लिए भी बाह्मणु एक जरिया होता था। अब मोबाइल आने से बहुत कुछ बदल गया है। उनके मुताबिक घास कटाई की जुआरी जहाँ महिलाओं के लिए मनोरंजन का भी एक जरिया होती थी वहीं इससे घास का कटान भी आसानी से हो जाता था।

बंजार की तुंग पंचायत के लोग बताते हैं कि घास की जुआरी की खास बात यह है कि इसमें महिलाएं समूहों में बहुतायत में हिस्सा लेती हैं। अलग-अलग परिवारों के लोग घास काटने की जुआरी छोटे समूहों में करते हैं और शाम को घर लौटते हुए जुआरा अपनी सामर्थ्य अनुसार एक घास का बोझा अपने-अपने घर ले जाता है। इस परंपरा से न केवल जुआरे बुलाने वाला बल्कि जुआरी का हिस्सा बने सभी परिवार बारी-बारी लाभान्वित होते हैं।

घास ढोने के लिए भी जुआरी की जाती है। हिमाचल के चंबा जिले में इसे 'लेतारी' कहा जाता है। लोग गाते-बजाते घास लेकर घर लौटते हैं। प्राकृतिक आपदा आगजनी आदि की स्थिति में घास इत्यादि की भी मदद पहाड़ों में की जाती है।

अलग-अलग क्षेत्रों में घास काटने के लिए, ढोने के लिए अलग नाम हैं लेकिन तरीका एक-सा ही है। घास कटान और सुखाने का कार्य सर्दी के मौसम से पहले करना होता है। कृषि के साथ-साथ सिमतटा पशुपालन, आधुनिकता के दौर में नई पीढ़ी का पुश्तैनी पशुपालन से मोह

भंग अब घास और घासणी की जुआरी को भी समेटने की राह में है। अब न तो 'लामण' की सुरीली आवाज़ सुनाई देती है और न ही लोगों में पहले जैसा जुनून दिख रहा है।

कुछ लामण या बाह्मणु देखिये :

घास काटते हुए...

घाअऊ लौँउंदी ए...

घाह फुअणु क्लेशेअ...

घाअऊ लौँऊने दे डीगणे...

गौअपा मारदी बेशे अ...

अर्थात हे घास काटने वाली तुम्हारा घास कलेशा (एक परिंदा जिसे जंगली मुर्गा कहा जाता है) नामक परिंदे ने तितर-बितर कर दिया है। घास काटना छोड़ दे और थोड़ी देर गर्पे मारने बैठ जा।

जब लड़के की प्रेमिका के गाँव जाने पर मुलाकात नहीं होती तो वह लामण या बाह्मणु के द्वारा सन्देश देता है

बीड़ा बूटी भांबरी... कोअड़ी बूटी नी बोईव

झुरी रे पअड़ी नगअरी म्हारी नी खबअर कोई...

अर्थात खेत के निचले हिस्से में भांबरी (मसालानुमा पौध) के पेड़ हैं और ऊपरी ओर बोई है। मैं अपनी प्रेमिका के गाँव में हूँ लेकिन मेरी कोई खबर नहीं ले रही हो।

जब किसी से आँख मिचौली होती है

लड़का बोलता है :

कुखड़ा चेलुआ... धारी धारी का राअता...आ...आ

आअज मिअली जाअत्रा... काअला मिअली पाअणी री बाअता...

लड़का अपने सन्देश में कहता है कि कुक्खड़ (मुर्गा) पक्षी है जिस में लाल-लाल धारियाँ हैं। आज मेले में मिलना और कल सुबह पानी के रास्ते में मुलाकात होगी।

लड़की बोलती है :

घौअणा ग्रान्हटू... मौन्झे पाअणी री बाअई...

दोती नी लाअगे निहाल्दे, - भाल्दे मांह लाग्दा दुहणी गाअअई...

फिहाड़ा शुण्णए कांसे कटोरुआ... आ...लोका रै...शोहरुआ...आ...आ...

लड़की सन्देश में उतर देती है कि गाँव बहुत घना है और बीच में एक पानी की बाऊड़ी है। कहती है कि सुबह मेरा न इंतज़ार करना, न दूँढते रहना क्योंकि मुझे सुबह गाय दुहनी होती है। कांसे की कटोरी एवं कटोरी से उपमा करते हुए कहती है कि हे कांसे के कटोरु लोगों के (शोहरू) लडके मेरा सन्देश सुन ले।

साधू जाअती रा चिमटा

ब्राह्मणा जाती रे झोले

बागो निखल लाड़ी बचेआरी ये
भौंअरू वेशादा खोले...

लड़का कहता है कि साधू का चिमटा है और ब्राह्मण की तरह थैला है। लड़की से कहता है कि घर से बाहर निकल तेरा प्रेमी तेरे आँगन में बैठा हुआ है।

छोटा छपरू... लाम्बी घिरदी चोई...

घौर, खअल लागे हेरदे...

झुरी नी हेरनी होई...

लड़का गाँव का वर्णन करता है कि छोटी सी छत है और इस छत से ऊँचाई से बारिश का पानी गिर रहा है। घर मकान या खअल (घास रखने वाला मकान) ये सब दिख रहे हैं लेकिन मेरी दिलवर कहीं भी दिखाई नहीं दे रही है।

ऊंची आवाज़ में गा कर सन्देश पहुँचाने की शैली ही लामन, बाह्मणु या भौरू है।

मलीहियाती :

मलीहियाती खेतों तक गोबर ढोने की एक परंपरा है। गोबर ढोने की यह परंपरा भी जुआरी की ही एक विधा है। हिमाचल के ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों का मुख्य पेशा कृषि और पशुपालन है। पशुपालन के बगैर कृषि की परिकल्पना नहीं की जा सकती। खेत में हल बैल हो या फिर दूध-घी की जरूरतें पशुपालन से ही पूरी की जाती हैं। इससे भी जरूरी फसल के लिए उर्वरक के रूप में गोबर का उपयोग बड़ी पुरानी परंपरा है। हालाँकि अब रासायनिक और अन्य खादें बाज़ार में मिलने लगी हैं लेकिन पहले समूचे पहाड़ी इलाकों की कृषि गोबर पर ही निर्भर थी।

अपनी भूमि के लिए गोबर की जरूरत पूरी करने के लिए लोग पशुपालन को जरूरी मानते थे और काफी संख्या में पशु पालते थे। पशुओं के नीचे घास-पात, कैल आदि की पतियाँ बिछावन के रूप में उपयोग की जाती हैं। कुछ क्षेत्रों में इसे 'छौइन' कहा जाता है।

पशुओं के रहने की जगह को यहाँ 'खुहड' कहा जाता है। खुहड वास्तव में पशुओं को रखने के कमरे को कहा जाता है। ये जगह आमतौर पर रिहायशी घर की धरातल वाली मंजिल या फिर घास रखने के लिए बने 'प्राच्छे' की निचली मंजिल में होती है। वास्तव में पहाड़ों में घास रखने के लिए एक अलग मकान होता है जिसे 'पड़ाच्छा' या 'प्राच्छा' कहा जाता है। स्थानीय बोली में इसे 'खअल' कहा जाता है। अब पशुओं को बांधने के लिए अलग जगह बनाई जाने लगी है।

'खुहड' के गोबर को कई-कई दिनों के बाद निकाल-निकाल कर ढेर लगा दिया जाता है ताकि गोबर के साथ बिछावन में उपयोग की गयी घास आदि भी सड़कर अच्छी खाद, उर्वरक में परिवर्तित हो। इस गली सड़ी गोबर खाद का उपयोग फसल बोने से पहले भी किया जाता है लेकिन फसल उग आने के बाद इसका उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है ताकि अच्छी पैदावार हो।

गोबर को खेतों तक ले जाने का काम परिवार के लोग तो करते ही हैं लेकिन कई खेत दूर होने और भूमि ज्यादा होने के कारण एक परिवार के लिए हर खेत में इसे पहुँचाना आसान

काम नहीं होता है। इस काम को पूरा करने के लिए अपने ही गाँव के जुआरों का सहयोग लिया जाता है।

गोबर को कुल्लू और मंडी सराज सहित कई स्थानों पर 'मअल', 'मैल' या 'मल' कहा जाता है। 'मअल' से ही गोबर ढोने की जुआरी को स्थानीय भाषा में 'मलीहियाती' कहा जाता है। आमतौर पर मलीहियाती में उसी गाँव के लोग शरीक होते हैं। इस में हर परिवार का एक सदस्य भाग लेता है। इसी प्रकार एक बाद दूसरे परिवार की 'मलीहियाती' होती है। ग्रामीण बताते हैं कि गाँव में हर परिवार का बारी-बारी से यह 'मलीहियाती' का सिलसिला चलता रहता है। कई बार ऐसे गाँव में कई परिवार होने पर बारह-पन्द्रह दिन भी लग जाते हैं।

मलीहियाती गोबर ढोने के काम के साथ-साथ एक मनोरंजन का माध्यम भी है। कमोबेश मंडी और कुल्लू सराज में इसके आयोजन की परंपरा काफी मेल खाती है। मलीहियाती वाले दिन किल्टों से पीठ पर गोबर ढोया जाता है। आमतौर पर अधिकांश क्षेत्रों में मलीहियाती का आयोजन सर्दी के आगमन के साथ ही किया जाता है।

सराज क्षेत्र के तीब्र प्रकाश बताते हैं कि एक-दो लोग गोबर के ढेर से किल्टे भरने का काम करते हैं इन्हें मंडी और कुल्लू सराज के उपरी इलाकों में 'भरदे' (भरने वाले) कहा जाता है। कुछ महिलाएं खेत में गोबर बिखरने का काम करती हैं इन्हें 'पोछ्दी' (बिखरने वाली) कहा जाता है और बाकी ढोने का काम करते हैं। मजाक-मजाक में किल्टे भरने वाले किल्टे में अतिरिक्त गोबर भरते रहते हैं। इससे जहाँ काम जल्दी निपटता है वहीं मनोरंजन भी होता है और हंसी-मजाक भी चलता रहता है।

स्वैच्छिक संगठन सहारा के निदेशक एवं बंजार के पास कलवारी गाँव के निवासी राजेंद्र चौहान बताते हैं कि पहले मलीहियाती का लुत्फ ही कुछ और था। कई गाँवों में शाम तक सारा गोबर खेत में पहुँचने के बाद गोबर ढोने वाले खेत से सभी किल्टों को इकट्ठा कर इनमें 'कथुरल' नामक घास लाते हैं। यह एक विशेष किस्म की ऐसी घास होती है जो दूर से फेंकने पर भी कपड़े, बालों आदि में आसानी से चिपक जाती है। कुछ क्षेत्रों में किल्टे में 'बिटर' (एक घास), खेत की मिट्टी, कहीं भेखल नामक कांटे की टहनियाँ, गेंदे के फूल आदि लाते हैं।

किल्टे ढोने वाले में से एक प्रमुख व्यक्ति (कुछ क्षेत्रों में यह व्यक्ति अनुसूचित जाति से सम्बन्धित होता है) इसे लेकर विशेष गीत जिन्हें कुछ क्षेत्रों में 'हुलडी' और कुछ में 'हणु' भी कहा जाता है, गाते हुए खेत से वापिस घर लौटते हैं और दिन भर किल्टे भरने और ज्यादा भार भरने के बदले चिपकने वाली घास और गोबर में भी खूब धींगा-मस्ती करते हैं। कई बार तो उसे पकड़ कर गोबर-गौमूत्र से लथपथ कर देते हैं। खूब हंसी-मजाक होता है। इसी हंसी-मजाक में दिनभर बोझा ढोने की थकान भी फुर्र हो जाती है।

बंजार क्षेत्र के तांदी पंचायत के शाच गाँव के बुजुर्ग खेम दास अपने अनुभव साझा करते हुए बताते हैं कि पहले बड़े जमींदार 'बाजे गूजे' (वाद्य यंत्रों के साथ) के साथ 'मलीहियाती' करते थे और इसमें बड़ी संख्या में लोग शिरकत करते थे। उनके मुताबिक कुछ

क्षेत्रों में दिनभर गोबर भरने वाले को काम खत्म होने पर पकड़ कर गोबर के पास ले जाते हैं और जबरन उसके ऊपर गोबर आदि डालकर लथ-पथ करते थे। इस के उपरान्त उसे 'मूसल' (धान कूटने का डंडा) पर उठाकर घर के करीब पहुंचाते हैं और मजाक-मजाक में उस पर राख, पानी आदि भी फैंकते थे। इस नजारे को देख सभी लोग, बच्चे, बूढ़े और महिलाएं खूब आनंद लेते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि परंपरानुसार इतना कुछ होने पर भी इस दुर्दशा के लिए कभी भी टकराव नहीं होता है। लोग इसे हंसी-खुशी स्वीकार करते हैं। ये पल बेहद रोमांचक होते थे लेकिन अब यह सब कम ही दिखता है।

इन पलों का गाँव के दूसरे लोग भी भरपूर लुत्फ उठाते हैं। उसके बाद मेजबान परिवार की महिला मलीहियाती में शामिल लोगों को अखरोट आदि देती है और मलीहियाती समाप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया के बाद दावत एवं भोजन आदि का आयोजन होता है। कई जगह शौक्रीन लोग घरों के भीतर कमरों में नाटी भी नाचते थे। नाटी में यदि ज्यादा लोग हुए तो गाँव की खुली जगह नाटी के खूब लश्कारे लगते थे। कई बार यह नाटी सुबह पाँ फटने पर ही खत्म होती थी। अब नाटी का वह सिलसिला लगभग खत्म हो चुका है और अब दावत में शराब जैसी कुरीति ने भी घर कर लिया है। पहाड़ों में मलीहियाती का आयोजन अभी भी होता है लेकिन अब यह छोटे-छोटे समूहों में होती है।

मलीहियाती के दौरान भीतरी सराज की तीर्थन घाटी के बठाहड क्षेत्र में गाया जाने वाला 'हणु' (विशेष गीत) जिसमें रामायण के कुछ घटनाक्रमों का जिक्र होता है। इस गीत के माहिर पूर्ण चंद बताते हैं कि हणु में न केवल रामायण बल्कि कई ऐतिहासिक घटनाओं और लोककथाओं का भी जिक्र किया जाता था। अब न वह गीत हैं न गाने वाले और न ही इनके जानकार। इनके मुताबिक दिन भर गोबर ढोने के बाद घर लौटते हुए हणु गाने और इसकी धुन पर नाचने का मजा ही कुछ और है। हणु गाते लौटते लोगों से सहज ही काम समाप्ति का अन्दाजा भी लगता था।

एक गीत जिसमें लंका दहन और हनुमान के लंका पहुँचने पर लंका के बुरे दिन आने अर्थात् विनाश होने का बखान किया गया है। हणु में आमतौर पर रामायण का बखान किया जाता है। संवाद शैली में जोशपूर्ण लहजे में गाये जाने वाले हणु को सुनने का लुत्फ ही कुछ अलग होता है। हणु गीत के साथ गोबर ढोने वाले खूब नृत्य करते हैं। कुछ पंक्तियाँ भरने वालों के लिए तो कुछ पंक्तियाँ गोबर बिखरने वाली के लिए भी गायी जाती हैं।

एक हणु :

हणुआ हो

किन्धा ले हणुआ...आओ... हणुआ

नदी लय पारशा आओ

किन्धा ले...किन्धा लय आओ...

नौदी केदडी टअपी...

ओ लुप्कू छुपकू ए टअपी...
किन्धा लय हणुआ आअओ...
नदी लय पारशा आओ...
नौदी केही तौरी
सेऊ शरठु लाऊ...

लंका पड़ी लो डैई
लंका होई बानदरे भौरी...
हणुआ...हणुआ...
हणु रे लिंगले वाह्धी सराल
ओ ऐसा लंका आई डूवण काल
किन्धा लय ह्नुआ आओ...

अर्थात् हे हनुमान...तुम कहाँ से आये। हनुमान कहते हैं कि मैं नदी पार से आया। नदी पार कैसे की तो पूछने पर कहते हैं कि पत्थर-पत्थर पर छलांग लगाते हुए पार की। फिर पूछने पर कहते हैं कि बड़ी नदी पत्थरों का पुल (राम सेतु) बना कर भी पार की। आखिरी पंक्तियों में लंका का वर्णन है। लंका पर चढ़ाई हो गयी और लंका वानरों से भर गयी। हनुमान की पूँछ ने विशाल सर्प का आकार ले लिया और अब लंका के डूबने अर्थात् नष्ट होने का काल (समय) आ गया है।

दूसरा प्रसंग :

हणुआ...हणुआ...
सिया पअडी पयीताअले...
कोती काढी कुदुआले...
हणुआ...हणुआ...
एक चाम्बे री लो बाई...
शाठ फनियारनी आई
सिया निहाऊँनी लायी...
हणुआ...हणुआ...

अर्थात् सीता के कीचड़ में गिरने का जिक्र है जिसे कुदालों से खोद कर बाहर निकाला जाता है। फिर एक चांदी की बावड़ी (पहाड़ों में पानी का प्राकृतिक स्रोत एवं झरना आदि) है जहाँ साठ पनीहारने (पानी भरने वाली) आई हैं और सीता को नहलाने की तैयारी चल रही है।

एक हणु जो गोबर भरने वाले और बिखेरने वाले के लिए गाया जाता है :

होऊ ले बांदरउआ होऊ
भौरदे लागला लोहू
किधा लय हणुआ...आओ...

पोछदी लागले काओँ...
किधा लय हणुआ आओँ...
नौदी पारा क्य आओँ...
हणुआ...

मलीहियाती वाले दिन कुछ लोग किल्टे भरते हैं और मजाक-मजाक में ज़्यादा गोबर डालते हैं। ढोने वाले गोबर का किल्टा लेकर खेत में ढेर लगाते हैं और बिखरने वाले इसे बिखेर देते हैं। और तब ढोने वाले शाम को इन्हें खरी खोटी सुनाते हैं। इन भावपूर्ण पंक्तियों में दुआ मांगते हुए कहा गया है कि भरने वाले को लहू लगेगा और बिखरने वाले को कौए अर्थात् उन्हें भी उनकी भांति कष्ट होना चाहिए।

भेड़-बकरी पालन

चूँकि गाँव में पहले बहुत ज़्यादा भेड़-बकरी पालन होता था। समूचे गाँव की सैंकड़ों की तादाद में भेड़-बकरियों के लिए चारे का इंतजाम आसान नहीं होता था। लिहाज़ा कुछ लोग गर्मी का मौसम शुरू होते ही भेड़-बकरियों के रेवड़ लेकर ऊंचे शिखरों, जंगलों और चारागाहों की ओर ले जाते थे। जो भेड़-बकरी चराने के लिए जाते थे उन्हें 'फुआल' कहा जाता था।

गाँव के कई परिवारों की भेड़-बकरियाँ एक साथ लेकर कुछ अनुभवी फुआल हर साल जंगल की ओर जाते थे। हालाँकि कुछ दशक पहले तक विभिन्न पड़ावों तक खाद्य सामग्री पहुँचाने का काम साझे तौर पर गाँव के भेड़-बकरी पालक करते थे लेकिन फुआल का ये काम बेहद मुश्किल और संघर्षपूर्ण था। जंगलों में रहना अपने खाने-पीने का जुगाड़ करना। सब्जी भाजी की जगह बकरी के दूध का उपयोग कर ही ये फुआल जीवन यापन करते थे। आंधी तूफान हो या फिर मूसलाधार बारिश, या जंगली जानवरों का खतरा इन फुआलों को अपना और भेड़-बकरी का बचाव आदि हर मुश्किल से पार पाना होता था।

सर्दी के आगमन के साथ ही लगभग 6 महीने बाद ये फुआल वापिस लौटते थे। इस मौके को लोग उत्सव के रूप में मनाते थे। आज भी कई गाँव में फुआलों के लौटने पर मनाये जाने वाले ये प्रतीकात्मक उत्सव बड़े मेलों के रूप में मनाये जाते हैं।

भेड़-बकरी पालन की यह साड़ी प्रथा सभी परिवारों के लिए फायदेमंद थी। सिमटते भेड़-बकरी पालन की वजह से इस परंपरा का महत्व भी खत्म होता जा रहा है। अभी भी कुछ गाँव में फुआल इस परंपरा को बनाये हुए हैं लेकिन अब न पहले जैसे रेवड़ हैं और न वैसा उत्साह। अब फुआलों की सेवाएं धन देकर ली जाती हैं। पहले हर भेड़-बकरी के हिसाब से फसल तैयार होने पर एक 'पत्था' (गाँव में अनाज तोलने की एक पुरानी इकाई, एक निश्चित बर्तन जो अभी भी देव परंपरा में उपयोग होता है इसका वजन एक किलो से कुछ कम होता है) प्रति भेड़-बकरी अनाज देने की भी परंपरा रही। अब हर भेड़-बकरी के हिसाब से पैसे दिए जाते हैं। मशियार पंचायत में फुआलों के लौटने पर एक उत्सव का आयोजन होता है जिसे 'बशैयों' कहा जाता है। इसे फुआलों का उत्सव

कहते हैं। कुछ गाँव में फुहालों के घर लौटने के मौके पर स्वागत स्वरूप इस उत्सव का आयोजन लड़कियां करती हैं। इसी पंचायत के घलिंग्चा में मनाया जाने वाला एक ऐसा ही उत्सव क्षेत्र के बड़े मेलों में से एक बनकर उभर रहा है। जहाँ दूर दराज के लोग भी बड़ी संख्या में शरीक होते हैं।

घराट की जुआरी

जब इंसान ने खेती करना सीखा, अनाज उगाने लगा और पीसकर खाने की जरूरत महसूस की जाने लगी तो 'घराट' का अस्तित्व सामने आया। सम्भवतः पानी से चलने वाली चक्की यानि घराट के आविष्कार के साथ ही रोटी या चपाती खाने की शुरुआत हुई होगी। आविष्कार के साथ ही घराट पहाड़ की जीवन शैली में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। घराट पहाड़ के लोगों का बड़ा आविष्कार है। हालांकि अब घराट भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं लेकिन अभी भी इनका वजूद बचा हुआ है। नदी के किनारों पर या फिर बरसाती नालों के पास बनाए जाने वाले घराट जहाँ अनाज पीसने का एक मात्र माध्यम थे वहीं घराट के कई किस्से कहानियां भी सुनने को मिलते हैं। इतना ही नहीं घराट के बहाने कई प्यार परवान चढ़ने वाले किस्से भी मिलते हैं। जो शादियों में परिवर्तित हुए।

घराट को चलाने वाले को 'घराटी' कहा जाता है। लोग गेहूँ, मक्की, जौ आदि पीसने के लिए इन्हीं का उपयोग करते थे। पिसाई के बदले 'घराटी' को एक निश्चित पैमाने से आटे के रूप में हिस्सेदारी मिलती थी। जिससे उस परिवार की आजीविका चलती थी। 'घराटी' और ग्रामीणों के बीच आपसी सम्बन्धों के संवाहक तो ये घराट थे ही लेकिन घराट आस-पास के लोगों के मेलजोल का भी एक प्रमुख केंद्र रहा है। आस-पास के गाँव के लोगों को आपस में जोड़े रखने के लिए भी घराट एक माध्यम रहा है।

घराट नहरनुमा कुहल के माध्यम से लायी गयी पानी की धारा और एक 'धुर' (पेड़ के एक लम्बे टुकड़े से बनी पाइप) के माध्यम से पानी की धारा से पत्थर की एक शिला को घुमा कर आटा पीसने की एक तकनीक है। पेड़ के एक छोटे और एक लम्बे टुकड़े को इस तरह खोखला किया जाता था ताकि उसके बीच से पानी की धारा के प्रवाह में गति लायी जा सके। छोटा खोल या धुर कुहल से जुड़कर पानी की धारा को दूसरी धुर से जो आमतौर पर ऊँचाई से नीचे की ओर झुकी रहती है से पानी को आगे भेजती है और लम्बी धुर से गुजरते ही पानी का वेग बढ़ जाता है और घराट के लिए बनी पंखानुमा धुरी को घुमाती है। इसे कुछ क्षेत्रों में 'गोअली' तो कुछ में 'मुंगरी' भी कहते हैं। जिसमें पंखे लगे रहते हैं। इसी के घूमने से घराट पिसाई करता है।

घराट के लिए दो विशेष किस्म के पत्थरों से बनी शिलाएं होती हैं। एक अपनी जगह पर स्थिर रहती है तो दूसरी पानी के वेग से लकड़ी के विशाल पंखों के द्वारा घूमकर अपना कार्य करती है। ये शिलाएं विशेष पत्थर से बनाई जाती हैं। ऐसा पत्थर जो आपसी घर्षण से न घिसे। इन भारी भरकम शिलाओं को दूर-दूर से घराट तक पहुँचाना मुश्किल काम होता था लेकिन जुआरी की वजह से यह भी आसान होता था। इसके लिए बुलौहरी तकनीक अपनाई जाती थी। इन शिलाओं

को घराट तक पहुँचाने में कई बार कई-कई दिन भी लगते थे। कहा जा सकता है कि घराट निर्माण में भी जुआरी की अहम भूमिका रही है। घराट से जहाँ सभी लोगों को सुविधा होती थी वहीं यह एक परिवार के लिए आजीविका का साधन भी बनता था। सभी की सुविधा के लिए साझे प्रयासों के बिना घराट का अस्तित्व एवं निर्माण असम्भव था। काम चाहे शिलाओं को पहुँचाने का हो, लकड़ी की विशाल धुर के निर्माण का या फिर जलधारा को नदी से घराट की ओर मोड़ने का हर कार्य में जुआरी ने ही अहम भूमिका निभाई है।

अनाज पीसने की जुआरी

कुल्लू के बाहरी सराज के कुंगश क्षेत्र की कुछ बुजुर्गों के अनुसार पहले जो इलाके या गाँव नदी से बहुत दूर थे वहाँ बरसात के मौसम में चलने वाले घराट ही होते थे। चूँकि ये बरसाती नाले भारी बारिश आने पर ही बहते हैं और इन नालों में पानी आने से ही घराट चलते थे। ऐसे में लोगों को अपने परिवार की ज़रूरत के मुताबिक सालभर के लिए आटा पीसना जरूरी और मजबूरी होता था। लिहाजा लोग साल भर के लिए आटे का इंतजाम करने के लिए जुआरी का सहारा लेते थे। बरसाती नाले दूर होने की वजह से घराट तक अनाज पहुँचाना और आटा पीसकर वापिस लाना आसान नहीं था। लोग बताते हैं कि गाँव के लोग तब बारी-बारी जुआरी के रूप में एक-दूसरे की मदद करते थे और बरसात के मौसम में ही साल भर का अनाज पीस कर रखते थे। पहले अनाज घराट तक पहुँचाने के लिए और फिर आटा पीसकर घर वापिस लाने की जुआरी होती थी।

चक्की आने के उपरान्त और दुकानों में आटे की उपलब्धता के फलस्वरूप घराट के लिए जुआरी प्रथा का स्वतः ही अंत हो गया। भले ही आज की पीढ़ी घराट के लिए की जाने वाली इस जुआरी से अनभिज्ञ हो लेकिन घराट के लिए जुआरी और वह बरसात के मौसम का इंतजार और संघर्ष, एक पीढ़ी के जहन में अभी भी है।

सामाजिक उत्सवों में जुआरी

विवाह शादी हो या फिर कोई और समारोह ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी जुआरी एवं साझा प्रयास, एक-दूसरे का सहयोग करने की परंपरा अभी भी जिंदा है। शहरी क्षेत्रों में जहाँ ऐसे आयोजनों के लिए बोटी (खाना बनाने वाला), सर्विस आदि करने के लिए जहाँ धन खर्च कर आयोजन किया जाता है वहीं आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में आपसी सहयोग एवं परंपरानुसार ग्रामीण एक-दूसरे का हाथ बटाते हैं। ऐसे में हर आयोजन आसान हो जाता है।

विवाह समारोह आदि में धाम (भोजन व्यवस्था) जैसे सभी कार्य आपसी सहयोग और भाईचारे से ही संपन्न होते हैं। विवाह शादियों के लिए दिन निर्धारित होने के उपरान्त शुभ दिन देखकर पहले ईंधन के लिए लकड़ी काटी जाती है। शादी आदि के लिए जुआरी आदि का सिलसिला कई दिनों तक चलता है। समारोह वाले दिन धाम बनाने और फिर खिलाने आदि का पूरा दायित्व भी ग्रामीण आपसी सहयोग से ही निभाते हैं। भाजी-सब्जी हो या फिर चपाती



(भोजन व्यवस्था आपसी सहयोग की एक परंपरा)

बनाना, बर्तन साफ करने का काम या फिर पानी का इंतजाम गाँव के महिला पुरुष, छोटे-बड़े सभी अपने सामर्थ्य अनुसार अपनी-अपनी भूमिका अदा करते हैं। साझे प्रयासों की यह विरासत ग्रामीण समाज में आपसी भाईचारे को मजबूती से बनाए रखने में आज भी अहम भूमिका निभा रही है।

आपसी सहयोग से हर समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है। पहले जब कार्ड नहीं होते थे, फोन नहीं थे तो सामाजिक समारोह में निमन्त्रण का जिम्मा भी गाँव के लोग ही निभाते थे। इसके लिए निमन्त्रणकर्ता को हर उस व्यक्ति के घर पहुंचना जरूरी होता था जिसे आमंत्रित किया जाना है। निमन्त्रण देने वाले की लोग खूब आवभगत करते थे। उसे खाली हाथ भी नहीं भेजा जाता था। हालाँकि अब बतौर शगुन पैसे भी दिए जाने लगे हैं लेकिन पहले लोग दाल, मिर्ची आदि अपने उत्पाद देकर निमन्त्रण स्वीकार करते थे। पहले के मुकाबले अब निमन्त्रण का यह विधान कम होने लगा है। अब लोग कार्ड या फोन का सहारा लेने लगे हैं।

कुल्लू के दूर दराज के कई गाँव में विवाह अवसर पर प्रचलित एक परंपरा है जिसे कुछ क्षेत्रों में 'तल्लडी' कहते हैं। वास्तव में 'तल्लडी' दूर पार तक के इलाकों में सगे संबंधियों का एक ऐसा समूह है जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुश्तैनी संबंध भी शामिल होते हैं। इस परंपरानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी निभाई गयी परंपरानुसार ब्याह शादी के अवसर पर घी और अनाज आदि देने की परंपरा है। भले ही कोई परिवार व्यक्तिगत रूप से अनाज-घी आदि न पहुँचा पाए तो इसे 'ग्रार्यी' के माध्यम से भेजा जाता है। ग्रार्यी दो परिवारों के बीच एक सामाजिक संबंध है। जो एक पीढ़ी से आगे दूसरी पीढ़ी में भी जारी रहता है। किसी भी सामाजिक समारोह में ग्रार्यी के रूप में सहयोग की भूमिका

अदा करना भी एक परंपरा है। निमन्त्रण के बाद यदि कोई परिवार इस 'तल्लडी' परंपरा को नहीं निभाता है तो दोनों परिवारों के बीच की यह परंपरा समाप्त हो जाती है।

देउली आदि

देव उत्सव देउली, देवता को अपने घर आमंत्रित करने का एक उत्सव है। देउली के दौरान भी साझे प्रयासों से खान-पान का इन्तजाम किया जाता है। भोजन तैयार करने से लेकर बर्तन मांजने तक की सारी प्रक्रिया में ग्रायीं और गाँव के लोग ही अहम भूमिका निभाते हैं।

आपसी तालमेल से उत्सवों एवं समारोहों में भूमिका अदा करने की परंपरा भी जुआरी एवं सामूहिकता का एक स्वरूप है। आपसी सहयोग की वजह से कोई भी आयोजन आसानी से सम्पन्न हो जाता है। इस प्रथा से जहाँ काम आसान होता है वहीं ग्रामीण समाज में आपसी तालमेल और भाईचारा बनाए रखने में एक कड़ी के रूप में काम करती है।

पारिश्रमिक रहित काम की इस परंपरा की खास बात यह है गाँव में जो व्यक्ति या परिवार शामिल नहीं होता है उसे दूसरों का सहयोग भी नहीं मिलता है। ग्रामीण लोगों की जीवन शैली में आपसी सहयोग की यह शैली उत्कृष्ट है। इसी के दम पर सामाजिक समारोह एवं आयोजनों की परंपरा जिंदा है। यह परंपरा न होती तो शायद पहाड़ के सामाजिक और देवत्व से जुड़े समारोहों का स्वरूप भी कुछ और ही होता। साझे प्रयासों से ही ग्रामीण हर चुनौती से पार पाते दिखते हैं। विवाह शादी आदि सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के बाद सहयोग करने वाले सभी लोगों के लिए धामडू या खान-पान का विशेष आयोजन भी किया जाता है। धामडू की परंपरा ज्यादा पुरानी नहीं है लेकिन कुछ क्षेत्रों में विवाह शादी जैसे समारोह सम्पन्न होने के बाद भूमिका निभाने वाले एवं काम करने वाले ग्रायियों (गाँव के लोगों) के सम्मान में विशेष खान-पान का आयोजन किया जाता है जिसे धामडू कहा जाता है।

मृत्यु आदि पर

बंजार घाटी के कुछ क्षेत्रों में एक समुदाय के लोग किसी की मृत्यु होने के उपरान्त शोक संतप्त परिवार के लिए ईंधन की लकड़ी का इंतजाम करने के लिए भी जुआरी करते हैं ताकि उस परिवार को परेशानी न झेलनी पड़े। यह सामूहिक प्रयास जहाँ आपसी भाईचारे को मजबूती प्रदान करता है वहीं शोकसंतप्त परिवार को संबल देता है।

कुल्लू और मंडी क्षेत्र के ऊँचाई वाले क्षेत्रों में किसी परिवार में मृत्यु आदि पर सगे सम्बन्धी या जिनसे मेलजोल का पुरतैनी व्यवहार है 'शुद्धी' (तेरहवीं के समतुल्य) वाले दिन अनाज, घी आदि शोक संतप्त परिवार को देने की रस्म अदा करते हैं। लोगों के मुताबिक यह सामग्री स्वयं या किसी के माध्यम से भेजी जाती है। इस सामग्री का वह परिवार ब्यौरा दर्ज करता है ताकि वह भी इस सहयोग को चुकता कर सके। यदि कोई पक्ष इस दिन इस परंपरा को नहीं निभाता है तो दोनों पक्षों के बीच का मेलजोल का यह सामाजिक सम्बन्ध शादी-

विवाह सहित तमाम अवसरों के लिए स्वतः ही खत्म हो जाता है। अब लोग घी या अनाज के बदले पैसे देने की परंपरा अपना रहे हैं। ऐसे परिवार जो पशुपालन छोड़ चुके हैं अब घी के रूप में पैसे देकर परंपरा का निर्वहन कर रहे हैं। वास्तव में गेहूँ, जौ मक्की, घी आदि देने की पहाड़ की यह परंपरा शोक सन्तस परिवार के लिए एक बड़ी राहत भी है। यह आचार व्यवहार एक समुदाय तक सीमित नहीं है बल्कि एक दूसरी जातियों के बीच भी इस रस्म को लोग पीढ़ियों से निभाते आ रहे हैं।

देव परंपरा में जुआरी

देव परंपरा में आपसी सहयोग से काम करने की परंपरा ही जुआरी का ही एक स्वरूप है। कृषि, गृहनिर्माण, दारगी, मलीहियाती, देउली, शादी-विवाह आदि की जुआरी काम के बदले काम की परिपाटी से जुडी हुई हैं। खेत खलियान का काम हो या फिर कोई दूसरा कार्य जुआरी का स्पष्ट मतलब है कि यदि कोई किसी की जुआरी करता है तो उस व्यक्ति को बदले में स्वयं भी योगदान देना होगा लेकिन देव परंपरा में आस्था के चलते यह शर्त लागू नहीं होती लेकिन कार्य में योगदान देना अनिवार्य है।

देव परंपरा में सहयोग की प्रथा एक गाँव तक सीमित नहीं रहती बल्कि पूरी हारियान भागीदारी निभाती है। हारियान कुछ गाँव का एक समूह होता है जहाँ तक के लोगों में उस देवता की मान्यता होती है।

देवता के रथ निर्माण की बात हो, मंदिर निर्माण हो या फिर मुख (देव प्रतिमा) का निर्माण हो या कोई अन्य कार्य सब लोग मिलकर अपनी-अपनी भूमिका अदा करते हैं। कुल्लू और मंडी ही नहीं पूरे हिमाचल को देवभूमि कहा जाता है। यहाँ पहाड़ के शिखरों पर, जंगलों में और हर गाँव में, यहाँ तक कि कई घरों में देवी-देवताओं और जोगनियों का वास होता है। हर गाँव या चार-छह गाँव का एक प्रमुख देवता होता है। गाँव के देवता की जहाँ गाँव में एक कोठी (उत्कृष्ट भवन) होती है वहीं देहुरा (छोटा मंदिर या स्थान) होता है। घाटी के देवता रथ में विराजमान होते हैं जो विशेष किस्म की लकड़ी से बनते हैं। देहुरे या मंदिरों के लिए विशाल लकड़ी के स्लीपर जिसे 'नास' कहा जाता है और मंदिर के छत पर लगने वाली बड़ी कड़ी को 'क्रन्शा' या 'कोरा' कहा जाता है। इसे बीसियों लोग एक साथ उठाते हैं। आमतौर पर पहाड़ों में देवता को 'देऊ' कहा जाता है और उनके बैठने का स्थान 'देऊरा' कहलाता है। देवता के 'देऊरे' लगभग एक ही वास्तुशिल्प में बनते हैं वह भले ही छोटा हो या बड़ा।

लकड़ी की चार विशाल कड़ियाँ (नास) जो बीम के रूप में उपयोग की जाती हैं को आपस में जोड़ा जाता है। और इसमें पिल्लर आकार के खड़े खम्बे (नास) जोड़े जाते हैं। ऊपरी सिरे पर एक बार फिर कंक्रीट के बीम की भाँति ही चार नास जोड़े जाते हैं और उसके ऊपर छत लगायी जाती है। छत के ऊपरी हिस्से में एक कड़ी लगायी जाती है जिसे 'क्रंशा' भी कहा जाता है।



(1. देवता के मंदिर के लिए नास की सामूहिक दारगी, 2. गाँव के मंदिर, 3. गाँव में मंदिर निर्माण)

देवता के कायदे-कानून :

देवता के कायदे कानून लोगों के लिए सर्वोपरी होते हैं। देवता के कुछ पदाधिकारी होते हैं। देव काफिले वाद्ययंत्रों के साथ निकलते हैं जिसमें हारियान यानि देवता के अनुयायी शरीक होते हैं। एक समुदाय वाद्ययंत्रों को बजाता है जिन्हें बजंत्री कहा जाता है। देवास्था के मुताबिक सभी

देवाज्ञा का पालन करते हैं। कोई भी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता। देवता के कायदे कानून भी लोगों को बिना किसी लोभ के आपस में जोड़े रखते हैं।

देवरथ का निर्माण :

देवरथ के लिए कुछ विशेष जंगलों में लकड़ी काटी जाती है। हारियान के साझे प्रयासों से लकड़ी आदि काटने का काम किया जाता है। इस कार्य के लिए कुछ लोगों का चयन देवता के नुमाइंदे (पदाधिकारी) करते हैं। उसके कुछ अरसे बाद इसका निर्माण किया जाता है। एक अंतराल के बाद देवरथ बन कर तैयार होता है रथ तैयार होने के बाद जब देवता नये रथ पर विराजमान होते हैं तो इसकी प्रतिष्ठा का आयोजन होता है। उस देवता के तमाम अनुयायी इस मौके पर देवता के सम्मान में अपने-अपने घरों में खाने-पीने का इंतजाम करते हैं। इसे 'पूज' कहा जाता है। एक परंपरा का निर्वहन करते हुए एकजुटता की ये मिसाल भी गजब की है।

'पूज' आमतौर पर नया देवरथ बनने पर, नये मंदिर के निर्माण आदि के उपरान्त प्रतिष्ठा (उद्घाटन) स्वरूप एक आयोजन किया जाता है। इसे स्थानीय भाषा में 'पूज' कहते हैं। किसी न किसी रूप में पूज का आयोजन दशकों बाद होता है। 'पूज' के दौरान सभी घरों में निश्चित मुहूर्त पर बकरे काटे जाते हैं। इस अवसर पर बड़ी तादाद में सगे सम्बन्धियों को भी आमंत्रित किया जाता है। हालाँकि ग्रामीण समाज में उत्सव आयोजनों में खाने-पीने के सभी इंतजाम गाँव के लोग जिन्हें 'ग्रार्या' कहा जाता है करते हैं लेकिन पूज के दौरान सभी के घरों में आयोजन होता है ऐसे में इस कार्य का जिम्मा सगे सम्बन्धियों को दिया जाता है।

टील गाँव के 93 वर्षीय बुजुर्ग भगत राम बताते हैं कि उनके गाँव में सात-आठ दशक पहले पूज का आयोजन हुआ था। ऐसे में न केवल दराट बल्कि बकरे काटने वाले का अभाव था। वे बताते हैं कि तभी मंडी सराज के दूर थाटा गाँव के निक्का राम ठाकुर ने ही पूरे गाँव में बकरे काटने की रस्म को पूरा किया था। पूज न केवल एक गाँव या हारियान या लोगों का साझा उत्सव होता है बल्कि इसमें दूर पार के गाँव के लोग भी भूमिका निभाते हैं। भगत राम कहते हैं कि पूज, मेले आदि ऐसे अवसर होते थे जो एक-दूसरे गाँव के लोगों को आपसी मेलजोल और आपसी सम्बन्ध बनाए रखने का मौका देते हैं।

जमाण निकालना

पालकीनुमा देवरथ को उठाने के लिए जिन कड़ियों का उपयोग किया जाता है उन्हें जमाण कहा जाता है। इन्हें निकालने के लिए भी लोग सामूहिक कार्य करते हैं। जंगल में लकड़ी काटने से लेकर उसे उपयोग के लिए तैयार करने की सारी प्रक्रिया साझे प्रयासों से ही होती है।

मंदिर आदि का निर्माण

मंदिर आदि के निर्माण के लिए भी लोग साझे प्रयास करते हैं। देवता की इस जुआरी को



(कुल्लू के देवी के रथ)

भी बिना किसी लोभ लालच के निभाया जाता है। इस कार्य के लिए किसी को भी पारिश्रमिक नहीं दिया जाता है। मंदिर निर्माण के लिए इमारती लकड़ी, पत्थर आदि का कार्य साझे प्रयासों से ही होता है। हालाँकि काम करने वाले हस्तशिल्पियों और कारीगरों को भुगतान किया जाता है जिसके लिए धन देवता के भंडार के अलावा लोग एकत्रित करते हैं।

इस कार्य में कई दिन, महीने लग जाते हैं। कुछ गाँव के लोगों ने बताया के देवता के मुख यानि प्रतिमा जिन्हें स्थानीय भाषा में 'मोहरे' कहा जाता है। देव रथ में देवता का मुख (एक से ज्यादा) लगाकर इसे सजाया जाता है। मुख का निर्माण हो या फिर मंदिर का गाँव के लोग बारी-बारी से भोजन आदि की व्यवस्था करते हैं। कुछ क्षेत्रों में इन्हें 'खुनाडू' (सेवादार) भी कहा जाता है। पूरे कार्य के लिए चुने हुए इन 'खुनाहडूओं' (कुछ लोगों) को कारीगर की सेवा, स्नान, भोजन आदि की व्यवस्था के साथ-साथ कार्य भी करना होता है। देवता के इस कार्य के लिए किसी को भी मजदूरी आदि देने का प्रावधान परंपरानुसार नहीं है। आपसी सहयोग से ही गाँव में दिखने वाले सुंदर मंदिरों का निर्माण संभव हो पाता है। यहाँ जाति-पाति भी कहीं आड़े नहीं आती, विरोधाभास भी नहीं होता।

लोगों की माने तो आपसी सहयोग या जुआरी की वजह से कई असंभव कार्य भी आसानी से संभव हो जाते हैं। सराज क्षेत्र के लोगों के मुताबिक जहाँ व्यक्तिगत जुआरी के लिए

व्यक्तिगत रूप से न्यौता दिया जाता है वहीं देवता की जुआरी के लिए नगाड़ा बजाकर आह्वान किया जाता है। देव परंपरा में किसी भी कार्य के लिए जहाँ लोग साझे प्रयास करते हैं वहीं देवत्व के लिए किसी भी किस्म के निर्माण आदि के लिए धन सम्बन्धी जरूरतें भी लोग साझे प्रयासों से ही पूरी करते हैं।

देवता की जुआरी में न केवल हरियान हिस्सा लेते हैं बल्कि कई बार लकड़ी, पत्थर आदि के लिए दारगी या जुआरी की जाती है जिसमें दूसरी हार यानि दूसरे देवता के क्षेत्र के लोग भी बुलाये जाते हैं। इस जुआरी के दौरान जहाँ 'खिंडू' परंपरा का निर्वहन किया जाता है वहीं देवता की ओर से भी विशेष धाम का आयोजन किया जाता है। विवाह शादियों, देव समारोह में भोजन व्यवस्था एव खाने-पीने के आयोजन को धाम या जग भी कहा जाता है। देवता के एक-दूसरे क्षेत्र में आने-जाने पर भी 'खिंडू' परंपरा निभायी जाती है।

खिंडू परंपरा में देवता के साथ आये हुए सभी मेहमानों को या जुआरों को हर परिवार में एक लाटरी चयन प्रक्रिया से बांटा जाता है। इस प्रक्रिया को 'पअगल' कहा जाता है। मसलन यदि सौ मेहमान हैं और पच्चीस परिवार हैं तो प्रति परिवार चार मेहमान होंगे। मेहमानों का ये बंटवारा और ये बांटे गए मेहमान ही खिंडू कहलाते हैं। कई बार ये परिवार निर्धारित रहते हैं और एक दूसरी हार में देवता के आवागमन पर लोग अपने-अपने निर्धारित परिवारों में ही मेहमानबाजी करते हैं। इसे 'खींड' कहा जाता है।

देवता की दारगी आदि के मामले में हर घर या परिवार से एक व्यक्ति का हिस्सा लेना जरूरी होता है। इस देव परंपरा में घर या परिवार वह माना जाता है जिसका चूल्हा अलग जलता हो। देवता की धाम, जोगनियों के लिए जग आदि का ज़िम्मा भी देव कारकून कुछ लोगों को देता है और यह लोग भोजन आदि बनाने और खिलाने आदि का पूरा दायित्व निभाते हैं।

प्राकृतिक आपदा में मदद

गाँव के लोग आगजनी या किसी भी अन्य आपदा के दौरान एक-दूसरे के मददगार बनते हैं। यह मदद चाहे अनाज के रूप में हो, घास के रूप में हो या फिर किसी अन्य रूप में। आपदा की इस घड़ी में लोगों में आपसी भाईचारा बड़ी भूमिका निभाता है। किसी का मकान आदि जलने पर यह मदद यहीं तक सीमित नहीं रहती बल्कि नये मकान के निर्माण में भी जुआरी के रूप में भी भरपूर सहयोग दिया जाता है।

जुआरी या आपसी सहयोग के कुछ और स्वरूप

पहाड़ में एक-दूसरे के सहयोग के और भी स्वरूप हैं। कृषि, पशुपालन, देव परंपरा या पहाड़ की जीवन शैली में लोगों का एक-दूसरे का सहयोग करने की परंपरा रही है। देव परंपरा में बजंतरी समुदाय का वाद्ययंत्रों को बजाना, पंडित का पूजा पाठ, मेले, त्यौहार, उत्सव समारोहों में विभिन्न समुदायों के लोग एक-दूसरे की बिना किसी भेदभाव के मदद करते आये हैं। उदाहरण के

लिए देवता के साथ बजंतरी हो या फिर पूजा पाठ करने वाला ब्राह्मण। विशेष अवसरों पर या फिर फसल तैयार होने पर लोग इन्हें बदले में अनाज देकर मदद करते हैं। कई स्थानों पर देव चाकरी में लगे कारदारों को भी फसल तैयार होने पर अनाज आदि देने की व्यवस्था है। देवता की चाकरी में लगे कारकूनों को कई बार अपना कृषि कार्य छोड़ कर देव चाकरी को प्राथमिकता देनी पड़ती है। लिहाजा फसल तैयार होने पर लोग अनाज, घी आदि देकर इनकी मदद करते हैं। यह परंपरा देव समाज को एक जुटता में पिरोये रखती है। पशुओं आदि की मौत के उपरान्त मृत पशु को ठिकाने लगाने के लिए भी एक-दूसरे की मदद ली जाती थी।

पुरोहिती की जुआरी

ग्राम्य समाज में सामाजिक अवसरों जैसे विवाह शादी, जन्म मृत्यु और देव परंपराओं में पुरोहित (ब्राह्मण) की भूमिका अहम रहती है। आमतौर पर प्रत्येक परिवार का अपना कुल पुरोहित होता है। कई परिवारों का एक ही कुल पुरोहित होता है। पुरोहित के कई जन्मान (अनुयायी) होते हैं। कई बार विभिन्न अवसरों पर एक से ज्यादा परिवारों में असमर्थ होने पर पुरोहित किसी अन्य ब्राह्मण को जुआरी रूप में प्रतिनियुक्त करता है। पुरोहित की जुआरी में जुआरे का चयन एवं प्रतिनियुक्ति पुरोहित के अधिकार क्षेत्र में रहती है। इस पुरोहित का कर्तव्य रस्में पूरी करने का रहता है।

गुर की जुआरी

देव परंपरा में गुर का विशेष महत्व रहता है। गुर देवता का ऐसा शिष्य एवं प्रतिनिधि होता है जिसके मुख से देव वाणी निकलती है। हर देवता परंपरानुसार अपना एक गुर चुनता है। गुर आमतौर पर विशेष परिवारों से ही चुने जाते हैं कई बार इन परिवारों एवं समुदाय से बाहर का व्यक्ति भी गुर बनता है। देवता के प्रतिनिधि घनशाम बताते हैं कि गुर का चयन देवता द्वारा ही किया जाता है। चयन के बाद गुर को कई देव परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। कई बार हिम शिखरों की यात्रा और कई बार आधी रात को जंगलों में भी देवाज्ञा से भटकना पड़ता है। परीक्षाएं पूर्ण होने के उपरान्त गुर का शुद्धिकरण होता है। जिसे 'गाअडू' कहा जाता है। कई अवसरों पर देवता वाद्ययंत्रों की एक विशेष धुन के साथ गुर में प्रवेश करता है और गुर देवता का आदेशों और निर्देशों को लोगों के समक्ष रखता है। देवता अपनी बात इसी गुर के माध्यम से रखते हैं।

कुल्लू जिला के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग अवसरों पर आगामी साल के लिए भविष्यवाणी भी करते हैं। कई बार देवता के गुर की अनुपस्थिति में किसी दूसरे देवता के गुर की सेवाएं देव जुआरू के रूप में ली जाती हैं लेकिन इस जुआरी में उसी गुर की सेवाएं ली जाती हैं जो परंपरानुसार पहले से ही सुचीबद्ध होते हैं। गुर की जुआरी में देव परंपरानुसार गुर को पूरा सम्मान मिलता है।

हस्त शिल्पियों और ग्रामीण किसानों के आपसी सम्बन्ध

चूँकि ग्रामीण किसानों का पेशा कृषि और पशुपालन ही रहा है। लिहाजा कृषि से सम्बन्धित उपकरणों, बर्तनों आदि के लिए निर्भरता हस्तशिल्पियों पर ही रही है। हस्तशिल्पी समुदाय के लोग लोगों की इन जरूरतों को पूरा करते थे। ऐसे में इन समुदाय के लोगों को भरपूर सम्मान मिलता था। उसे गाँव में या घर आने पर भोजन आदि सत्कार के साथ खिलाया जाता था।

अब हस्तशिल्प के हाशिये पर जाने से और बाजार व्यवस्था होने से ग्रामीण क्षेत्रों के हस्तशिल्पी भी उपेक्षित से जान पड़ते हैं। कुछ प्रबुद्ध लोगों के अनुसार पहले यही समुदाय जरूरतें पूरी करते थे इसलिए इन्हें खूब मान-सम्मान दिया जाता था लेकिन अब बाजार में आने वाली चीजों के चलते हस्तशिल्पियों पर लोगों की निर्भरता कम हो गयी है और मान-सम्मान एक औपचारिकता तक सिमट कर रह गया है।

हस्तशिल्पी समुदाय के लोग अपने निश्चित परिवारों की विभिन्न जरूरतें पूरी करते थे। लिहाजा जाति-पाति से दूर इस समुदाय से दूसरे किसान समुदायों का गहरा नाता और मधुर सम्बन्ध बने रहते थे। यदि सम्बन्ध बिगड़ते तो दोनों के बीच अपनी जरूरत पूरी करने में भी बाधा आती। दोनों समुदाय एक-दूसरे पर आश्रित हुआ करते थे।

इन हस्तशिल्पियों को उपकरण या किसी भी वस्तु की आपूर्ति के बदले पैसे की अपेक्षा फसल तैयार होने पर अनाज दिया जाता था। इस अनाज का हिस्सा फसल अच्छी या खराब होने की स्थिति में ज्यादा या कम होता था। हस्तशिल्पियों को दिए जाने वाले अनाज आदि को कुछ क्षेत्रों में 'खलौथा' कहा जाता था। कुल्लू और मंडी जिला की सीमा पर सुदूर टील गाँव के तेज सिंह बताते हैं कि हस्तशिल्पी पशुओं के लिए घास आदि की कमी पूरी कर सके इसलिए कुछ क्षेत्रों में गेंहू आदि काटते समय सोलह में से एक 'गडुर' हस्तशिल्पी के लिए रखा जाता था ताकि उसकी अनाज के साथ-साथ घास की जरूरत भी पूरी हो सके। अब इस परंपरा का स्थान नकदी ने ले लिया है और हस्तशिल्प भी विलुप्तता के कगार पर है।

ग्रामीण हस्तशिल्प पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है। अब हस्तशिल्प की उपेक्षा के चलते इस समुदाय की नई पीढ़ी का रूझान पुश्तैनी धंधे की ओर कम हो गया है। इस समुदाय के लोग अब पुश्तैनी काम छोड़कर दूसरे काम धंधे को अपनाने लगे हैं। हस्तशिल्पियों और किसान समुदाय के आपसी रिश्ते अब फीके पड़ते जा रहे हैं। किसी बड़े गाँव के आस-पास ये हस्तशिल्पी बसे हुए हैं हस्तशिल्पी न केवल अपने आस-पास अपितु एक विस्तृत क्षेत्र तक हस्तशिल्प एवं उत्पादों की आपूर्ति करते थे। इन समुदायों के भी अलग-अलग वादियों में परिवार बंटे हुए होते थे और इन्हीं आपसी संबंधों के आधार पर ही एक-दूसरे की मदद का सिलसिला चलता था। संबंधों की दूर पार की इस कड़ी का भी अब अंत हो चुका है।

इस समुदाय के लोग कैसे मददगार होते थे कुछ उदाहरण ये हैं—

लुहार

लुहार लोहे से बने उपकरणों एवं यंत्रों की प्रतिपूर्ति करते थे। इनमें हल में लगने वाला लौहाल (हल में लगने वाला लोहे का औजार जो ज़मीन में हल चलाते समय खुदाई करता है), कुदाल, कुदाली, (भूमि खोदने के लिए गैंती नुमा औजार) निराई-गुड़ाई के लिए किलनी, दराट (लकड़ी के टहनियां या घनी झाड़ियाँ या कांटे आदि काटने के लिए), दराती (घास काटने के लिए), कुल्हाड़ा, चपटी कुल्हाड़ी (बड़े पेड़ों को छिल-छिलकर आकर देने के लिए), चिमटा, कडछी, कत्यूर (कैंची की एक किस्म जो भेड़ों से ऊन निकालने के उपयोग में लायी जाती है), धाम (ज़्यादा लोगों के लिए बनने वाले भोजन) आदि के लिए बड़े-बड़े कड़छे, तवा, कड़ाही, सताना (खुले चूल्हे पर पतीला आदि रखने के लिए तीन टांगों वाला एक स्टैंड), बकरा काटने वाला दराट भी ग्रामीण समाज में खासी अहमियत रखता है। चूँकि पहाड़ों के देव प्रथा में पशुबलि प्रथा का प्रचलन बहुत पुराना है। बकरा, भेड़ या भेड़ू (जिसे स्थानीय भाषा में 'लअड़' कहते हैं) आदि काटने के लिए विशेष किस्म के दराट का उपयोग होता है। हालाँकि यह दराट सभी परिवारों के पास नहीं होता था लिहाज़ा ज़रूरत पड़ने पर एक-दूसरे से मांग कर इसका उपयोग किया जाता था। पहाड़ों में 'पलियात्री' भी एक प्रमुख औजार है। देउली या अन्य समारोहों में मीट आदि को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटने के लिए इसका उपयोग होता था। समारोह में इन्हें भी एक-दूसरे घरों से ला कर ज़्यादा लोग मीट काटने के काम को अंजाम देते थे। देवता को धूप देने वाला धडछ, तवे पर रोटी बदलने का औज़ार 'प्लेन्ज़ा', गरम पतीला आदि पकड़ने के लिय सन्सी, लकड़ी के कारीगर के औज़ार जैसे रंदा, निहाण (नक्काशी या लकड़ी की खुदाई के लिए), गिरमिट (लकड़ी में छेद करने का यंत्र), पत्थर तोड़ने के लिए आडू, तंदूर (सर्दियों में कमरे को गर्म रखने और खाना आदि बनाने के लिए एक बॉक्स नुमा वस्तु) आदि उत्पाद प्रमुख थे जिन्हें हस्तशिल्पी लुहार अपने हाथों से बनाता था और ग्रामीणों की ज़रूरतें पूरी करता था।

यहाँ तक कि घरों के किवाड़, दुआर आदि पर लगने वाली सांकल, कब्जे, ताले आदि भी लुहार के हाथों ही बनते थे। एक दौर था जब लोहे से बनी वस्तुओं की हर ज़रूरत यही समुदाय पूरा करता था लेकिन बदले में धन देने का प्रावधान नहीं था। पहाड़ की इस साझी विरासत में किसान की कृषि आदि उपकरणों की ज़रूरत पूरी होती थी और लोहे का काम करने वाले के परिवार की किसान से मिलने वाले अनाज, दाल आदि से आजीविका चलती थी। खाद्यान की ज़रूरत पूरी करने और खेती सम्बन्धी किसान की ज़रूरत दो समुदाय को आपस में जोड़े रखती थीं। इतना ही नहीं मुसीबत के पलों में भी इन परिवारों का आपसी सामंजस्य, मेलजोल एक-दूसरे का सहायक बनता।

बारडा या शराहड़ा

कृषि और पशुपालन में लकड़ी की वस्तुओं, अनाज भंडारण, घास आदि लाने के लिए

पड़ने वाली जरूरत यही समुदाय पूरा करता था। बांसनुमा 'गअहरी' या 'नगाल' को छील-छीलकर बुनकर किल्टे, टोकरी आदि का आकार देने वाले हस्तशिल्पी को कुल्लू के ऊंचाई वाले क्षेत्रों में वारडा या शराहड़ा कहा जाता है। यह समुदाय भी लोहे की वस्तुओं की आपूर्ति करने वाले की भांति ही परंपरानुसार वस्तुओं की आपूर्ति करता था और बदले में उसे भी 'खलौथे' (फसल तैयार होने पर दिया जाने वाला अनाज का हिस्सा) के रूप में अनाज मिलता था जिससे उस के परिवार की आजीविका चलती थी।

यह समुदाय गोबर आदि ढोने के लिए किल्टे और पशुओं के लिए बिछावन के लिए घास-पत्ती आदि लाने, ले जाने के लिए भूंग (बड़े आकार का किल्टा) की आपूर्ति बड़े पैमाने पर करता था इसके बिना गाँव के लोगों का काम ही मुश्किल हो जाता। इस समुदाय के लोग भी एक दर्जन से ज्यादा वस्तुओं की प्रतिपूर्ति करते थे जो किसानियत के लिए जरूरी थी।

हस्तशिल्पी अनाज भंडारण के लिए ड्रमनुमा 'ढूंड' या 'ढूंडी' (ड्रम आकार के कंटेनर) बनाया करते थे। इन की गोबर से लिपाई कर इनमें अनाज, दालें आटा आदि रखा जाता था। लोगों के मुताबिक इनमें अनाज न तो सीलन आदि से खराब होता था और न ही इनमें कीट आदि का प्रकोप एवं खतरा रहता था। लोगों के मुताबिक अनाज आदि भंडारण से पहले इनकी गोबर से लिपाई की जाती थी जो स्वतः ही कीटनाशक का काम करता था। अब अनाज आदि के भंडारण के लिए प्लास्टिक या स्टील से बने पात्रों का उपयोग होने से लकड़ी के पात्र लगभग विलुप्त हो चुके हैं।

फसल तैयार होने के बाद गोहूँ, जौ आदि को दाना निकालने के उपरान्त एक विशाल टबनुमा लकड़ी से बुने हुए एक बर्तन में 'डालडू' (छोटे आकार की गोल टोकरी) से हलकी-सी ऊंचाई से हवा के वेग के साथ गिराया जाता था। हवा के वेग के साथ अनाज में मौजूद कचरा आदि उड़कर एक ओर ढेर लगता तो अनाज 'तराणे' के भीतर गिरता। इस विशाल टब को तराना या तराणी कहा जाता था। इस प्रक्रिया में अनाज भरने के लिए डालडू का उपयोग होता था। डालडू की एक श्रेणी पाथा और डालडू अनाज का वजन करने के लिए भी उपयोग किये जाते थे।



(1. किल्टा, 2. ढूंडी, 3. तराणा)

रोटी रखने के लिए टोकरी जिसे 'छाबु' कहा जाता था। ऐसी ही छाबु की अन्य श्रेणी ऊन रखने के लिए भी उपयोग होती थी। पशुओं के लिए 'मुहाटे' (मास्क) पशुओं से फसल बचाने के लिए किया जाता था। पहले गेहूँ निकालने के लिए गेहूँ को 'खअल' (पत्थरों से खुले में बने फर्श) पर फैलाया और सुखाया जाता है इसके उपरांत पशुओं को उसके ऊपर खूब घुमाया जाता है। घूमते पशु कुछ खा न सकें इसलिए उनके मुंह पर लकड़ी से बुने हुए ये मुहाटे (मास्क) बांधे जाते हैं।

ग्रामीणों की जरूरतों के मुताबिक बाज़ार में प्लास्टिक से बने किल्टे, टोकरियाँ, क्रेट जैसी जरूरी वस्तुएं आने से जहाँ ग्रामीणों का रूझान बाज़ार की ओर बढ़ता जा रहा है वहीं मांग घटने और इसमें उपयोग होने वाली लकड़ी की कमी के चलते यह हस्तशिल्प भी हाशिये पर चला गया है। प्लास्टिक से बनी वस्तुओं के बढ़ते प्रचलन ने दो समुदाय के बीच की एक-दूसरे के मदद की परंपरा को लील लिया है।

कभी जरूरत पड़ने पर अब किल्टे-टोकरी आदि का लेन-देन पैसे से होता है। कृषि और पशुपालन में एक-दूसरे के काम आने वाले दो समुदाय के बीच का सामंजस्य और सम्बन्ध अब समाप्ति की ओर है। दो समुदाय के बीच की इस परंपरा को खत्म करने में सबसे बड़ी भूमिका प्लास्टिक की रही है। अब पीठ पर किल्टे और हाथों में डालडू, छाबु लिए गाँव में आने वाला वह हस्तशिल्पी नहीं दिखता है।

कुल्लू जिला के बंजार उपमंडल की दूरस्थ पंचायत टील के छुनार गाँव के जुबलू राम कहते हैं कि अब तो जीवनशैली ही बदल गयी है। अब न तो वह परंपराएँ रही और न ही उनके हुनर के कद्रदान। अब उनकी अगली पीढ़ी भी इस काम से किनारा कर चुकी है। वह एक कहानी का जिक्र करते हैं कि किल्टे टोकरी बनाने की तकनीक बेहद पुरानी है।

कथा के अनुसार द्वारपुत्र युग में भगवान कृष्ण के जन्म के उपरान्त जब उन्हें मामा कंस से बचाने के लिए मथुरा से यमुना पार गोकुल ले जाया गया था तब ऐसी ही लकड़ी से बनी एक टोकरी का उपयोग किया गया। इसी टोकरी में रखकर उन्हें गोकुल पहुंचाया गया। इस टोकरी को स्थानीय बोली में 'छौअड़' कहा जाता है। कहते हैं कि श्री कृष्ण ने ग्वालियों के साथ बचपन का ज्यादा समय बिताया इसलिए बड़े होकर उन्होंने लोगों को घास-पात के रूप में उनके कांधों पर रहने का वादा किया। पहाड़ी क्षेत्रों में मनाया जाने वाला 'फागली' एवं 'बीठ' उत्सव इसी का एक परिणाम है। इस उत्सव में लोग लकड़ी के मुखौटे और घास आदि के वस्त्र पहनकर नृत्य करते हैं। इस मौके पर ठीक वैसी ही टोकरी का निर्माण इस समुदाय के लोग करते हैं जैसी कि श्री कृष्ण को गोकुल ले जाने के लिए उपयोग की गयी थी। आमतौर पर फाल्गुन मास में मनाये जाने वाले 'बीठ' उत्सव में इस टोकरी में जौ, घास, फूल आदि का बंडल बाँधकर रखा जाता है इसे ही कृष्ण रूप बीठ कहा जाता है। एक समुदाय का व्यक्ति इसे सिर पर रख कर नचाता है और विशेष वेला आने पर इसे लोगों की भीड़ में फेंकता है। जो इसे पकड़ता है उसे सौभाग्यशाली माना जाता है और अपने घर ले जाने पर उसे देव सम्मान में

दावत का आयोजन करना पड़ता है। बहरहाल इस समुदाय के लोग ही इस टोकरी एवं छौअड़ का निर्माण करते हैं। जब इसका निर्माण करने वाले नहीं होंगे तो बीठ उत्सव के आयोजन में भी बदलाव की झलक दिखने लगेगी।

टुठ, ठेरा या कुम्हार

ऊँचाई वाले क्षेत्रों में मिट्टी के बर्तन बनाने वालों को टुठ, कहा जाता है। पशुपालन और घुमन्तु प्रवृत्ति के चलते तम्बाकू का सेवन भी काफी पुराना रहा होगा। चार-पांच दशक पहले तक बीडी सिगरेट का उपयोग कम होता था। लोग तम्बाकू उगाते थे और हुक्का पीते थे। कई लोग चिलम पीते थे। हुक्के के जिस बर्तन में तम्बाकू डाल कर आग रखी जाती है उसे 'टुठी' कहते हैं मिट्टी से बनी इस टुठी के श्रेणी में चिलम भी आती है। हो सकता है कि इन हस्तशिल्पियों ने सबसे पहले 'टुठी' बनाई हो इसीलिए ये 'टुठु' कहलाये। ग्रामीण क्षेत्रों में पहले हुक्के और तम्बाकू का बड़ा प्रचलन था। जिस समय चाय आदि का प्रचलन नहीं था तब हुक्के से तम्बाकू पिला कर आतिथ्य सत्कार होता था।

ग्रामीण क्षेत्रों में पहले समूह में हुक्के पीते समय उम्र में सबसे छोटा वरिष्ठता के हिसाब से सबकी ओर हुक्का घुमाता था। जुआरी प्रथा हो या फिर कोई और कार्य पहले लंच के समय की अपेक्षा इसे तम्बाकू का समय कहा जाता था। 'हुक्का पानी बंद करना' पहाड़ में हुक्के के महत्व को दर्शाता है।

यह टुठ समुदाय लोगों की मिट्टी के बर्तनों से सम्बन्धित जरूरतें पूरी करता था। एक दौर में अधिकांश बर्तन मिट्टी के उपयोग होते थे। पानी ढोने और रखने के लिए 'घड़े' का उपयोग होता था। घड़े का आकार का एक अन्य बरतन जिसे 'चअरटी' कहते हैं। इसका उपयोग दूध जमने के बाद मंथने और घी निकालने के लिए किया जाता था। 'पारु' छोटे आकार का घडा है जिसमें दूध रखा जाता है। 'कुन्धडी' (केतली आकार का छोटा बर्तन जिसमें घी रखा जाता है और



मिट्टी के बर्तन :

1. पारु
2. चअरटी
3. कुन्धडी

आग पर गरम करने के उपरान्त परोसने के लिए उपयोग किया जाता है। पतीले, दही रखने के बर्तन, गाय के पानी आदि पिलाने और खिलाने के बर्तन, टुठी आदि की आपूर्ति यही समुदाय करता था। पहले खाना पकाने के लिए भी मिट्टी के बर्तनों का उपयोग होता था।

इन बर्तनों के बिना गाँव के लोगों का गुजारा नहीं होता था। दूध मथने के लिए मथानी आने से, विभिन्न किस्म के बर्तनों के प्लास्टिक या अन्य धातुओं के रूप में आने से अब ग्रामीणों और टुठु समुदाय की आपसी जरूरतें पूरी करने की परंपरा भी लगभग विलुप्त हो चुकी है। अब ग्रामीण क्षेत्रों में भी मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करने का जमाना खत्म हो चुका है। आपसी जरूरतें मिल-जुलकर पूरी करने का सिलसिला खत्म होने से दो समुदाय के बीच वह आपसी घनिष्ठ रिश्ते अब सिर्फ किस्सों में ही मिलेंगे।

चार समुदाय की साझी विरासत नरेल

‘नरेल’ या ‘नरेलु’ यानि हुक्का। नरेल घर में ही रहती है। जबकि नरेलु छोटा होने के कारण खेत खलियान या चलते-फिरते कहीं भी उपयोग होता था। सबसे बड़ी बात यह है कि यह हुक्का चार से ज्यादा समुदाय की साझी विरासत है। पहाड़ों में इसे ‘नरेल’ कहा जाता है। इस नरेल का पैदा जिसमें पानी रहता था पीतल धातु से बनता था जिसे लुहार बनाता था। दूसरा हिस्सा लकड़ी से नक्काशीनुमा तकनीक से खरादी बनाता था। लकड़ी पर नक्काशी की कला को खराद और नक्काशी करने वाले हस्तशिल्पी को खरादी कहा जाता है।

ऊपरी सिरे पर मिट्टी से बना एक बर्तन जिसे टुठी कहते हैं। इसके छेद में कोयला लगाकर ऊपर तम्बाकू पर आग रखी जाती थी। नरेल के लिए ‘टुठु’ (कुम्हार) टुठी बनाता था। नरेल का चौथा अहम हिस्सा नौदी या नडी होती थी। पाइपनुमा इस नौदी से काश खींचने पर टुठी से तम्बाकू का धुआँ लकड़ी के हिस्से से होते हुए पानी से छन कर मुँह तक पहुँचता है। ऐसे में चार समुदाय के साझा प्रयासों से बनी नरेल भी पहाड़ों में महत्व रखती थी। इसे दूसरे समुदाय भी प्रयोग में लाते थे।

जानकारों की मानो तो नरेल की तकनीक के मुताबिक तम्बाकू से निकलने वाली निकोटीन का कुछ हिस्सा लकड़ी में तो कुछ पानी में घुलने से यह कम नुकसानदेह था। यह वजह थी कि पहले बुजुर्ग अपनी दिनचर्या नरेल की सफाई और नरेल का पानी बदलने से ही करते थे। पहाड़ों की यह नरेल भी अब बीडी, सिगरेट खैनी आदि की भेंट चढ़कर अब विलुप्तप्रायः ही है। कुछ बुजुर्ग बताते हैं कि नरेल दूसरे समुदाय के साथ साझा नहीं की जाती थी अपितु टुठी निकाल कर साझा करने की परंपरा रही है।



‘नरेल’ या ‘नरेलु’

खरादी

एक दौर था ग्रामीण क्षेत्रों में लेन-देन पैसे से नहीं अपितु अनाज आदि से किया जाता था। पहाड़ की जीवन शैली में खरादी का भी बहुत महत्व था। खरादी, नरेल (हुक्के) के लकड़ी के हिस्से को तराश-तराश कर आकार देता था। पहाड़ों में भेड़-बकरी पालन बहुत पुराना रहा है। भेड़-बकरी से मिलने वाली ऊन से ही कपड़ों, बिस्तर आदि की जरूरतें पूरी होती थीं। बुजुर्ग बताते हैं कि गाँव में पहले बकरी के बालों से सोने या बैठने के लिए 'शालियापे' बनाते थे। हालाँकि इन पर बैठने से चुभन का एहसास होता था लेकिन सर्द इलाकों में शरीर को स्वस्थ रखने कमर, पीठ आदि के दर्द से छुटकारा पाने के लिए लाभकारी माना जाता था लेकिन अब विभिन्न प्रकार के गद्दे आदि के प्रचलन से 'शालियापों' का अस्तित्व भी खत्म हो गया है। भेड़-बकरी की ऊन कि मोटी कताई कर 'दोहडू' बुने जाते थे जिनका उपयोग कंबल के रूप में होता था। तन ढांपने के लिए कुर्ता-पायजामा, बास्केट, कोट आदि भी ऊन से बनते थे इसे पहले बुना जाता था और इस कपड़े को 'पट्टी' कहते थे। कुल्लू और किन्नौर के इलाकों में अभी भी इसका प्रचलन है लेकिन अब यह जरूरत नहीं अपितु फैशन का एक हिस्सा बन गया है। कुल्लू की महिलाएं कुलवी पट्टू पहनती थीं और किन्नौर आदि में शाल वगैरह का प्रचलन था। इसे भी ऊन की बारीक कताई कर 'रच्छ', 'बुनाहड़' या 'आहड' (पहाड़ी शैली का) में बुना जाता था।

सबसे पहले पहाड़ के इन वस्त्रों को बनाने के लिए ऊन कताई का काम किया जाता था। पहाड़ों में चरखा सरीखी तकनीक का उपयोग नहीं किया जाता था बल्कि 'तकली' का उपयोग होता था। खरादी द्वारा बनाई जाने वाली तकली एक बारीक लकड़ी जिसके निचले हिस्से में छोटा-सा गोलाकार पहियानुमा बटन सा होता है। इसके ऊपरी सिरे को ऊंगली से घुमाया जाता है और ऊन को धागे का आकार दिया जाता है। धागे को बड़े आकार की तकली, जिसे 'टेरनु' कहा जाता था, से दो धागों को ताने में परिवर्तित किया जाता था। तकली, टेरनु आदि बनाने का काम खरादी करता था।

बुजुर्ग कमली राम अपने अनुभवों को साझा करते हुए बताते हैं कि आमतौर पर महिलाएं ऊन कताई का काम चलते-फिरते भी करती थीं लेकिन इस काम को सर्दी में बर्फबारी के मौसम में किया जाता था। वे बताते हैं कि सर्दी में लोग एक-दूसरे के घरों में इकट्ठे होते थे और ऊन कताई में मदद करते थे। उनके अनुसार इस दौरान कथा वाचन, पहेलियों आदि का दौर भी चलता था। तीन चार दशकों से यह परंपरा भी लगभग खत्म हो गयी है। अब लोग हर प्रकार के वस्त्रों के लिए बाजार पर निर्भर हो गए हैं। खरादी का काम भी इससे प्रभावित हुआ है। खरादी का हुनर भी अब देखने को नहीं मिलता है।

महिलाओं और बच्चों की भूमिका

जुआरी में महिलाओं की बड़ी भूमिका रहती है। खेत खलियान हो या फिर पशु चारा,

चरागाहें हर जगह पुरुषों के मुकाबले महिलाएं बड़ी भूमिका निभाती हैं। आमतौर पर व्यक्तिगत जुआरी के लिए महिलाएं ही आपस में एक-दूसरे से तालमेल स्थापित कर जुआरी का दिन तय करती हैं। महिलाएं ही जुआरी के लिए निमन्त्रण देती हैं।

‘मलीहियाती’ जैसी जुआरी हो या फिर मक्की आदि तुडान, मक्की का छिलका उतारना, गोबर ढोना इसमें बच्चे भी हिस्सा लेते हैं। अक्सर बच्चों को जुआरी के लिए निमन्त्रण देने के लिए भी भेजा जाता है। जुआरी में बच्चे भी जहाँ सक्रिय भूमिका निभाते हैं वहीं इन जुआरियों में शिरकत कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक विरासत को आगे बढ़ाने और आत्मसात करने की दिशा में कदम बढ़ाते हैं।

जुआरी के दौरान काम के साथ-साथ महिलाएं और बच्चे ही भोजन व्यवस्था करते हैं। निराई-गुड़ाई हो, फसल कटाई, घास कटाई या फिर धान की रोपाई इसमें महिलाएं पुरुषों के मुकाबले ज्यादा शिरकत करती हैं।

आमतौर पर दारगी, पथियारगी आदि में महिलाएं कम शिरकत करती हैं। देवता की दारगी में भी महिलाएं हिस्सा नहीं लेती हैं लेकिन कुछ क्षेत्रों में अब महिलाएं भी देवता की दारगी आदि में भी भाग लेने लगी हैं। जुआरी के दौरान महिलाओं की भूमिका कम या जुआरी को लेकर उदासीनता के चलते इसका असर कृषि पर भी दिखने लगा है। बेशक परंपरागत कृषि को छोड़ लोग आधुनिक खेती कर रहे हैं लेकिन जुआरी के बिना बढ़ती मुश्किलें भी अनुभव की जाने लगी हैं। जुआरी कम होने से बच्चे भी इस साझी विरासत से स्वतः ही दूर हो रहे हैं या फिर अनभिज्ञ रह रहे हैं।

कुछ गाँव की महिलाएं बताती हैं कि पहले कृषि आदि कार्यों में महिला जुआरी का सबसे ज्यादा महत्व रहता था। काम ज्यादा होने पर दो चार बार भी जुआरी होती थी और काम पूरा हो जाता था। अब जुआरी कम होने से खेती भी अपने सामर्थ्य अनुसार की जाने लगी है। ग्रामीण समाज में खेती, पशुपालन आदि में महिलाएं सबसे ज्यादा भूमिका निभाती हैं। उदाहरण के तौर पर पुरुष बुआई का काम करते हैं और महिलाएं निराई-गुड़ाई, फसल बटोरने से लेकर खेत खाली करने तक पूरी जिम्मेवारी निभाती हैं। पशुओं के चारे के लिए घास का इंतजाम ईंधन के लिए लकड़ी का प्रबंध पहाड़ की महिलाएं यह सब भूमिका बखूबी निभाती हैं। जुआरी के चलते सभी क्रियाकलाप आसानी से पूर्ण हो जाते थे। अब जुआरी की परंपरा में लोगों का रूझान घटने से खेती का दायरा सिमट रहा है। इस परंपरा के कम होने का असर खेती पर भी पड़ रहा है। पहले महिलाएं एक-दूसरे का हाथ बंटती थीं लेकिन अब ऐसा न होने से महिलाओं की मुश्किलें बढ़ना स्वाभाविक है। ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं पर या तो काम का बोझ बढ़ रहा है या फिर ग्रामीण क्षेत्र की जीवन-शैली के अनुरूप क्रियाकलाप में बदलाव लाना मजबूरी बन गया है। यही वजह है कि अब धीरे-धीरे पशुपालन भी सिमट रहा है और आत्म-निर्भर बनाने वाली पुश्तैनी खेती भी पीछे छूटती जा रही है। कृषि कार्य के निष्पादन में पहाड़ के लोगों को श्रम शक्ति का अभाव झेलना पड़ रहा है।

जुआरी के दौरान बच्चे भी खूब लुत्फ़ उठाते थे और कार्य स्थल में पीने के पानी और खाना आदि पहुँचाने, जुआरुओं को निमन्त्रण देने की भूमिका के साथ-साथ बच्चे भी जुआरी परंपरा की तकनीक और कायदे कानून सीखते थे। इसी तर्ज पर एक-दूसरे का हाथ बंटाने की यह परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रही है।

पहले लंच समय को पहाड़ों में तम्बाकू का समय कहा जाता था और इस समय जहाँ पुरुष लोग तम्बाकू पीते थे वहीं महिलाएं ऊन कताई या बुनाई आदि का काम करती थीं, कुछ साल पहले तक विश्राम के समय महिलाएं 'पुअलें' भी बुनती थीं। पुअलें भांग के रेशे से बने धागों और बकरी के बाल से बने विभिन्न रंगों के धागों से बनने वाला एक आकर्षक पहाड़ी जूता होता है। पहले लोग यही पहना करते थे। कुल्लू के मलाना गाँव में आज भी देवता के प्रतिनिधि यही पुअलें पहनते हैं। देव परंपरानुसार दूसरे जूते पहनना वहाँ वर्जित है। जुआरी के बहाने महिलाएं अपना सुख-दुःख भी साझा करती थी। बच्चे तंबाकू के समय विभिन्न खेल खेलते थे। जुआरी की उपेक्षा का असर न केवल जीवन-शैली पर पड़ रहा है बल्कि इसके साथ बच्चों के खेल और महिलाओं की दूसरी गतिविधियाँ भी अब विलुप्त होने लगी हैं।

जुआरी के दौरान खानपान

चूँकि जुआरी बिना किसी पारिश्रमिक के काम करने की एक परंपरा है। इसलिए जुआरों के लिए श्रेष्ठ भोजन का इंतजाम किया जाता है। पहले पकवान भले ही कुछ भी हों लेकिन देसी घी का विशेष महत्व था। किसी भी दाल या सब्जी में छोटे आकार की करछी के साथ घी खिलाया जाता था।

परस राम, रामलाल, कुर्म दत्त सहित कई लोगों के अनुसार एक ऐसा भी दौर था जब ग्रामीण क्षेत्रों में चावल, दाल या गेंहू आदि का अभाव होता था। जौ, कोदरा, कायुनी, सरियारा, मक्की आदि का प्रचलन था। ऐसे में भोजन में क्या परोसा गया है यह मायने नहीं रखता था। पशुपालन मुख्य पेशा होने के कारण ग्रामीण इलाकों में घी बहुतायत में होता था इसलिए भोजन जैसा भी हो लेकिन घी का महत्व बढ़ा और घी खिलाने की परंपरा बन गयी। आज भी सुदूर ग्रामीण इलाकों में अतिथियों को दाल सब्जी में खूब घी खिलाने की परंपरा बरकरार है।

पहाड़ की जीवनशैली, कृषि और खान-पान आदि मौसम आधारित हैं। मौसम के हिसाब से ही जुआरी होती है। उदाहरण के लिए मलीहियाती आमतौर पर सर्दी के मौसम शुरू होने पर होती है। दारगी के लिए भी साफ़ मौसम का इंतज़ार रहता है, फसल की निराई-गुड़ाई, बिजाई पहाड़ों में सब मौसम के हिसाब से ही चलता है।

लोग बताते हैं कि पहले काम करते हुए जुआरों को दोपहर के भोजन के अलावा तम्बाकू का समय भी निर्धारित होता था। यह विश्राम के पल होते थे। दोपहर में 'बेहड़ी रोटी' (स्टफ़ड रोटी) भी खिलाई जाती थी। सर्दी के मौसम में 'बेहड़ी' (स्टफ़िंग) के लिए 'भंगोलू' (भांग के बीज), घी आदि का भी उपयोग होता था। उस दौर में चाय आदि का प्रचलन नहीं

था इसलिए लस्सी का उपयोग होता था। कई बार जुआरों को हलवा भी खिलाया जाता था। आमतौर पर पहले यह गुड़ से ही बनता था। कुछ लोग जुआरों को 'सिडडू' (पहाड़ी पकवान) भी खिलाते थे। गाँव में इन्हें सीअड़ कहा जाता है। सिडडू लड्डूनुमा एक पकवान है जिसके भीतर अखरोट, आलू, खसखस, सफ़ेद तिल आदि से स्टफ़िंग की जाती है और इसे भाप में पकाकर घी के साथ परोसा जाता है। अब इसे चटनी के साथ भी खाते हैं। बड़ी दारिगियों, पथियारगी और जुआरी में कई लोग बकरा काटकर धाम (ज्यादा लोगों के लिए भोजन व्यवस्था) परोसते थे। लोग बताते हैं कि किसी समय अनुसूचित जाति के लोगों को गिनकर भी रोटी दी जाती थी इसे 'छक' कहते थे। 'छक' का मतलब रोटी का एक ढेर होता है। चूँकि इस समुदाय का जुआरू अपना भोजन तो वहीं ग्रहण करता था जहाँ वह काम कर रहा था लेकिन उस परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भोजन के रूप में यह 'छक' दी जाती थी। यह रोटियाँ इन परिवारों के अन्य सदस्यों की संख्या को देखते हुए दी जाती थी। 'छक' की परंपरा कुछ अन्य समारोहों के दौरान भी थी। वास्तव में छक काम में हाथ बंटा रहे व्यक्ति के परिवार के लिए भोजन है। जिसे वह अपने साथ घर ले जाता था।

धीरे-धीरे दाल चावल का दौर आया लेकिन घी खान-पान में प्रमुख ही रहा। देउलियों में भी घी का अहम स्थान था। बड़ी दारगी, पठीयारगी आदि में कुछ लोग बकरा आदि भी काटते थे। अब जुआरी में चिकन आदि का प्रचलन भी शुरू हो चुका है। मदिरा पान वालों के लिए जुआरी के दौरान 'मदिरा' (शराब) श्रेष्ठतम दावत बनती जा रही है। मकान का लेंटर डालने के लिए की जाने वाली जुआरियों में अब ऐसा स्वरूप बहुतायत में दिखने लगा है। कुछ अवसरों पर 'मोडी' भी खिलाई जाती थी। आमतौर पर मोडी गेहूँ के दानों को भूनकर बनाई जाती थी और इसमें भांग के बीज जिसे 'भंगोलू' कहा जाता था भी मिलाये जाते थे।

देव परंपरा में देवता की दारगी के लिए लोग अपने घरों से ही सुबह का भोजन कर आते हैं। दारगी शुरू होने से पहले प्रसाद आदि खिलाया जाता है और शाम को देवता की धाम होती है जिसमे घी आदि परोसा जाता है। कई बार बकरा आदि भी काटा जाता है। देवता की अन्य धाम, जग आदि आयोजन में हारियान सामूहिक खर्चा करते हैं। पहाड़ों में देव परंपराओं में बकरा आदि की बलि प्रथा का प्रावधान है। विभिन्न अवसरों पर यह खर्च भी साझा ही होता है।

दोगी

इनाम एवं सम्मान स्वरूप दोगी दी जाती थी। देव परंपरा और कुछ अवसरों पर अभी भी दोगी प्रथा का प्रावधान है। मीट हो या फिर घी, दोगी के रूप में एक अतिरिक्त करछी दी जाती है। पथियारगी, दारगी सहित विभिन्न अवसरों पर श्रेष्ठ कार्य करने के इनाम एवं सम्मान स्वरूप दी जाने वाली दोगी का आज भी देव परंपराओं आदि में महत्व बरकरार है। विवाह आदि कुछ विशेष अवसरों पर 'ग्रायी' को भी तथा कुछ विशेष लोगों को दोगी देने का प्रावधान है। देव परंपरा में भी कई अवसरों पर देवता के कारकूनो (पदाधिकारियों) को दोगी दी जाती है।

जुआरी के दौरान पहनावा

जुआरी, पठीयारगी, मलीहियाती आदि में लोग बड़ी संख्या में भाग लेते हैं। विभिन्न अवसरों पर पहनावा या कपडे भी काम के मुताबिक पहने जाते हैं। पहले गोबर लकड़ी से बुने हुए किल्टों से ढोया जाता था लेकिन अब प्लास्टिक के किल्टे उपयोग में लाये जाते हैं। गोबर ढोने के लिए जुआरू मैले कुचैले कपडे पहनते हैं ताकि गोबर आदि गिरने का कोई असर न हो। भारी वस्तुएँ जैसे कि पत्थर आदि ढोने के लिए पीठ में फटे-पुराने कोट आदि से बनाया गया सख्त कोट या बास्केट जैसा वस्त्र पहना जाता है जिसे 'खिन्थड़ा' कहते हैं। लकड़ी की दारगी में लकड़ी की कड़ियाँ या दार कंधे पर रख कर ढोए जाते हैं और कन्धे पर असर न हो यही 'खिन्थड़ा' राहत प्रदान करता है और लकड़ी आदि की चुभन से बचाता है।

लकड़ी की कड़ियाँ छोटी होने पर दो व्यक्ति और लम्बी होने पर कई लोग एक साथ उठाते हैं। दारगी के लिए लोग कांधे पर मोटा-सा कपडा आदि रखते हैं ताकि इसके भार आदि का शरीर पर असर न हो। इसे मोटे कपडे या पुराने ऊन के कपड़े और बोरी आदि से भी बनाया जाता है। इसे कुछ क्षेत्रों में 'पठअतन' या 'डैच्छ' कहते हैं। पीठ पर ढोने वाली दारगी में पीठ को बचाने के लिए पहले विशेष किस्म का कोट पहना जाता था जिसे 'खिन्थडा' कहा जाता है। 'खिन्थडा' आमतौर पर ऊन के पुराने कोट से बनाया जाता था। इस कोट को मोटे धागे से सुई द्वारा हाथों से सिला-सिलाकर तैयार किया जाता था। इसे किसी भी भारी चीज किल्टे, लकड़ी का बोझा आदि



(खिन्थडा पहने हुए बुजुर्ग महिला)



(पीठ-पत्थर ढोने के लिए)

उठाने के लिए अक्सर उपयोग किया जाता था। लेकिन ये 'खिंथडे' अब बीते ज़माने की बात हो गए हैं। पीठ पर भार ढोने के लिए मोटे कपड़े या बोरी आदि से बना 'पीठु' भी उपयोग किया जाता था। पत्थर आदि की जुआरी के लिए लकड़ी से बने 'पीठु' का उपयोग किया जाता है। भेड़-बकरी चराने वाला 'फुहाल' ऊंचाई वाले ठन्डे इलाकों के हिसाब से ऊन से बने वस्त्रों के बाहर बकरी के बालों से बना लम्बा सा कोट पहनते थे और सोने के लिए भी बकरी के 'शालियापे' का उपयोग करते थे ताकि बरसात के दिनों में भी शरीर को गरम रखा जा सके।

धान रोपाई पानी में होने के कारण जूतों के बिना ही करनी होती है लिहाजा इसी के अनुरूप वस्त्र भी पहने जाते हैं।

जुआरी : कुछ तकनीक

धरौहली

'धरौहली' (बड़े आकार का पत्थर का स्लेट एवं शिला) लोगों के मुताबिक जब छत पर स्लेट डाले जाते हैं तब एक सबसे बड़े आकार का स्लेट भी लाया जाता था जिसे 'धरौहली' कहा जाता है। दारगी के दिन यह 'धरौहली' सबसे पहले घर पहुँचती है। जब छत डालने का कार्य शुरू होता है तो छत के मध्य में सबसे पहले यही शिला जिसे स्थानीय बोलियों में 'पाट' या स्लेट कहा जाता है को रखा जाता था। कई बार यह धरौहली साधारण स्लेट भी होता है। गाडा गोशैनी, मशियार, तांदी, श्रीकोट आदि गाँव के उम्रदराज़ लोगों के अनुसार स्लेट की दारगी वाले दिन सबसे पहले 'धरौहली' उठाने वाले का चयन किया जाता था। इसके लिए सबसे दूर से आने वाले किसी व्यक्ति को 'पअगल' (देव परंपरा में लाटरी रूपी एक प्रक्रिया) के द्वारा चयनित किया जाता था। कई बार इसे उठाने का काम दो व्यक्तियों को संयुक्त रूप से या बारी-बारी से भी करना होता था। गाँव पहुँचने पर आटा, अखरोट आदि फेंककर विधि-विधान से पूजन कर इस 'धरौहली' (शिला) को धरती पर रखा जाता है। कुछ क्षेत्रों में जब छत पड़ती है तो यही शिला सबसे पहले रखी जाती है। 'धरौहली' उठाने वाले को खाने में 'दोगी' यानि सम्मान स्वरूप एक करछी घी या मीठ अतिरिक्त खिलाया जाता है। श्रीकोट क्षेत्र में सबसे बड़ा स्लेट उठाने वाले को पगड़ी दे कर सम्मानित किया जाता था और उसे दोगी भी दी जाती थी। कई बार एक भारी स्लेट दो-तीन लोग बारी-बारी भी उठाते थे।

बुलाहरी या गलअथ

बुलाहरी या गलअथ भारी वस्तुओं को उठाने की एक तकनीक है। इस तकनीक के तहत भारी चीज़ जैसे 'घराट' की शिला के पत्थर, भारी भरकम मशीनरी आदि को मज़बूत डंडों से रस्सियों के साथ बांधा जाता है और फिर मिलकर इसे लोग उठाते हैं। भारी चीज़ को सामूहिक रूप से उठाने की इस प्रणाली को बुलाहरी कहते हैं। कभी-कभी उठाने के लिए 16 बुलाहरी तो कभी

आठ बुलाहरी, चार और छह बुलाहरी शामिल होते हैं। लकड़ी की कड़ियाँ या दार लम्बा होने पर भी बुलाहरी तकनीक उपयोग में लायी जाती है।

दोहरे लाठरू

भारी-भरकम लकड़ों को ले जाने के लिए कुल्लू जिला के कुछ क्षेत्रों में 'लाठरू' तकनीक का उपयोग होता था। इस तकनीक में दो या तीन लकड़ी के गोलाकार लकड़ों को भारी लकड़ी के नीचे रखा जाता है और जब भारी लकड़ी को धक्का दिया जाता है तो यह 'लाठरू' टायर का काम करते हैं और भारी लकड़ी को आगे-आगे ले जाने में मदद करते हैं। कई बार ज्यादा जोर या ताकत की जरूरत हुई तो लोग 'हेसरू' (जोश बढ़ाने के लिए अश्लील स्लोगन) भी लगाते हैं।

एक लोककथा के मुताबिक यह परंपरा बेहद पुरानी है। बंजार घाटी के गोशैनी से कुछ दूरी पर मनौणी गाँव के तुले राम बताते हैं कि नास या भारी चीज को उठाने के लिए परंपरा की शुरुआत द्वारपुत्र युग में हुई थी। कहते हैं कि कंस के महल के लिए बड़े-बड़े नास ढोने के लिए जुआरी की जा रही थी और इसमें राक्षस भी शामिल हुए थे इसी वजह से हेसरू में अश्लीलता का पुट था।

कहते हैं कि कई दिन तक जुआरी करने वाले नास (लकड़ी की विशाल कड़ी) को खींच-खींच कर थकते जा रहे थे लेकिन एक दिन में ये महज इस की लम्बाई के बराबर ही आगे पहुँचा पा रहे थे। तब वासुकी नाग आदमी रूप में वहाँ पहुँचते हैं और उस नास को पाँव के अंगूठे से धक्का देते और वह नास काफी आगे पहुँच जाता है। कहते हैं कि तब वासुकी नाग इसे कांधे पर उठा कर कंस के महल तक ले गया। वहाँ पहुँच कर उसने पूछा कि मैं इसे नीचे रख रहा हूँ। महल कितना पक्का है और किसने निर्माण किया है। तब मानवरूप वासुकी नाग को बताया गया कि इसे 'थाऊवी' (भवन निर्माण करने वाला विशेष समुदाय) ने बनाया है और बेहद पक्का है। कहते हैं कि जब वासुकी नाग ने इसे नीचे रखा तो पूरा महल ढह गया। कहते हैं महल ढहाने वाले इस नास को उठाने के लिए राक्षसों ने पूरा जोर लगाया और हेसरू की शुरुआत हुयी।

कुछ हेसरू...

हेसरू बोला हाई सार... हाई सार...

भाई सराजी... भाई सराजी... मर्द गाजी...

छौली री रोटी... शागा री भाजी... हाई सार

हेसरू बोला हाई सार...

जोर लगाके हाई सार... हाई सार...

हेसरू बोला हैई सार... सार शब्द के साथ खींचने वाले एक साथ पूरी ताकत लगाते हैं और भारी वस्तु झटके के साथ आगे-आगे खिसकती रहती है। हेसरू में मर्जी से तुकबन्दी कर हाई सार... शब्द को और भी जोश पूर्ण बनाया जाता है। उपरोक्त हेसरू में कहा जा रहा है कि भाई सराजी (सिराज घाटी का वासी) दमदार मर्द है। दूसरी पंक्ति में छौली री रोटी... अर्थात् मक्की की रोटी और सरसों का साग हाई सार...

एक अन्य हेसरू जिसमें जंगल से जुड़े एक पेड़ काईल (कैल इमारती लकड़ी) के शहर की ओर जाने का जिक्र है। अर्थात् ये काला पेड़ जंगल छोड़ कर शहरी इलाके की ओर जा रहा है।

...काईल काली... हाई सार...

गौहर छाअडी... बाल्हा बे चाली...

हाई सार... भाई लगाल

गौपा रे काल...

भाई सराजी

हौअड़ मरोकिये... कौरले भाजी... हाई सार

अर्थात् लग घाटी के लोग गप्पों के लिए माहिर हैं और सराज के लोग भारी भरकम पेड़ों के टूट को तोड़-मरोड़ कर सब्जी बनाने का भी दम रखते हैं।

कुछ साझे उत्सव

देवता की धाम (भंडारा) आदि का आयोजन लोग साझे प्रयासों से करते हैं। इसके लिए चाहे बकरे की कीमत हो या फिर कोई अन्य खर्च इसके लिए सभी परिवारों की हिस्सेदारी बराबर रहती है। इसमें अनाज, घी आदि सभी वस्तुओं में लोग अपनी-अपनी हिस्सेदारी निभाते हैं।

कुल्लू जिला की दूरस्थ पंचायत मशियार में वैशाख संक्रांति को एक उत्सव होता है। इस बार मुझे भी इस उत्सव में अतिथि के रूप में भाग लेने का अवसर मिला। इस उत्सव के दिन पांच गाँव के आराध्य देव 'शेषनाग' का रथ 'टेरा' नामक एक शिखर पर अपने हारियानों के साथ जाता है। इस दिन करीब 120 से ज्यादा परिवार करीब एक सेर ताजा घी लेकर यहाँ जाते हैं। वास्तव में सेर नाप के मिट्टी के बर्तन को कहते हैं। जो केतली की भाँति होता है। अब यह बर्तन कम और केतलियाँ यहाँ ज्यादा दिखती हैं।

शिखर पर पहुँचने पर यहाँ भी 'अतिथि देवो भव' की परंपरा निभाई जाती है। बाहर से आये अतिथियों को यहाँ बिठाया जाता है और सभी गाँव के लोग बारी-बारी से खाने में घी परोसते हैं जिसे प्रसाद स्वरूप अतिथि डिब्बों आदि में भरकर अपने-अपने घर ले जाते हैं। इसी प्रकार रोटी सब्जी भी सभी लोग बाँट कर खिलाते हैं। इस परंपरानुसार यहाँ ताजा घी लाया जाता है। यदि इस दौरान किसी घर में गाय न होने पर घी न हो तो लोग इन परिवारों की भी घी दे कर मदद की रस्म अदा करते हैं।

देवता के अतिथि

किसी दूसरे क्षेत्र के देवता के आगमन पर आये अतिथि 'देउलू' (देवता के साथ आये लोग) का स्वागत 'खिंडू' के रूप में करते हैं। इसमें भी सभी परिवार अपने घर आये खिंडूओं का सत्कार करते हैं। देवता के साथ आने वाले अतिथियों को देव परंपरा में खिंडू कहा जाता है। खिंडू संख्या के अनुसार अतिथि के रूप में सभी परिवारों में बाँटे जाते हैं और उनकी खूब खातिरदारी की

जाती है। लोगों का मानना है कि जितनी अच्छी खातिरदारी वे करेंगी अगली बार उनकी भी ऐसी ही खातिरदारी होगी। 'खींड' परंपरा से दो हारियान या दो क्षेत्रों के बीच मधुर संबंध बने रहते हैं।

भाती

बंजार क्षेत्र के कुछ गाँव में भाती का आयोजन होता है इसके लिए सभी घरों से लोग आटा एकत्र करते हैं। देवता के दरबार में इसके लड्डुनुमा सीडू बना कर धाम बनाई जाती है और परोसी जाती है। शक्तियां अर्जित करने के उपरांत एक शिखर से लौटे ग्राम देवता का 'जग' (भंडारे का एक रूप) दिया जाता है। इस जग के बाद भाती मनाने की परंपरा है।

बशौओं

भाती के बाद बशौओं मनाया जाता है। अलग-अलग गाँव में इस उत्सव का आयोजन बारी-बारी किया जाता है। बटाहड घाटी में यह कई जगह मनाया जाता है। कहा जाता है कि यह आयोजन 6 महीनों बाद जंगलों से घर लौटने वाले 'फुहालों' (भेड़-बकरी के चरवाहे) के सत्कार में आयोजित किया जाता है। इस काम में गाँव की लड़कियां मुख्य भूमिका अदा करती हैं। लड़कियां हर घर से आटा, घी, पैसे आदि की उगाही करती हैं। इसमें तीन से पांच दिन लगते हैं।

जब फुहाल लौटते हैं तो उस दिन खुशी-खुशी ये उत्सव आयोजित किया जाता है। लड़कियां खुले में एक स्थान पर विभिन्न पकवान बनाती हैं। इस अवसर पर गाँव के लोग अपने-अपने सगे सम्बन्धियों को भी आमंत्रित करते हैं। देव प्रतिनिधियों और बजंतरियों (वाद्ययंत्र बजाने वाले लोगों का समूह) को रसोई के पास ही खाना खिलाया जाता है जबकि अन्य लोग अपने-अपने घरों में खाना खाते हैं। इस आयोजन के बाद पूरी रात लोग नाटी नाचते हैं। घाटी के घलिंग्चा गाँव में यह उत्सव एक बड़ा मेला बन कर उभर रहा है। इस दौरान लगने वाली नाटी में नाटी का मूल स्वरूप और गाने की पुरानी विधाएं 'लामन' आदि भी सुनने को मिलते हैं। पहले घर के भीतर ही नृत्य होता है और औपचारिकता पूरी होने के उपरान्त गाँव के खुले स्थान पर बड़ी नाटी का आयोजन होता है।

मशियार क्षेत्र में बशौओं में गाये जाने वाले गीत

मझाली गाँव के उत्तम ठाकुर के मुताबिक बशौओं छह महीने बाद जंगल से भेड़-बकरी चराकर घर लौटने वाले फुहाल के स्वागत में और मिलन की खुशी का उत्सव है। जिसमें गाँव के लोग और सगे-संबंधी भी शामिल होते हैं। ये परंपरा सदियों से चली आ रही है। इसमें विशेष किस्म के गीत गाये जाते हैं। इस क्षेत्र में फुहालों को 'गादी' और उसकी पत्नी को 'गादड' भी कहा जाता है। यह गादी ज्येष्ठ महीने में वनों की ओर जाते हैं और छह महीने बाद लौटते हैं। दोनों की इस लम्बी जुदाई और यात्रा का वर्णन संवाद रूप में इन गीतों में मिलता है। जैसे कि गादी और गादड के बीच का संवाद देखिये :

गादड गाते हुए पूछती है :

भूदूका काढ़े गादीआ, तुहे कासरी आड़ी, ऐत्री भेडा
अर्थात् कांधे पर बन्दूक और तुमने इतनी भेड़े किसकी लायी

गादी : थोड़ी चारी आपणी... बौहु चारी सनेडा...

अर्थात् थोड़ी अपनी चराई... और बहुत सी दूसरों की

गादड : पीठी चौकू कीरडू... छह सा महीने रा फेरा...

पीठ में किल्टा उठाकर अब छह महीने का चक्कर है...

गादी : हुक्के आई तम्बाकू री... पाणी दे छाडी नरेला...

गादी अपनी गादड से कहता है कि उसका मन हुक्का पीने को कर रहा है इसलिए नरेल (हुक्के) में पानी डाल कर दे।

गादड : गौयीं चकी हलकी... पूजू लोड़ी सवेरा...

अर्थात् धीमे-धीमे कदमों से चलना ताकि अँधेरा होने से पहले समय पर पहुंचे

गादी : घौरेय रौहे रांबडी... माम्भे टाइम भतेरा...

मेरे लिए तो समय काफी है पर घर में तुम ठीक-ठाक रहना

गादड : कंअई... धैडका... दौउरा... कौई संजका डेरा...

गादड उदास लहजे में कहती है कि कहाँ दिन का दौरा होगा और कहाँ साँझ का डेरा होगा

गादी : जोथै-पोथै, दिहाडका दौऊरा... डूआरे-डीभरे सोन्झ का डेरा...

दिन भर जोतों (चोटियों) और जंगलों का दौरा और शाम को गुफाओं आदि में मेरा डेरा (बसेरा) होगा

फुहाल जंगल से लौट चुका है तो गादड पूछती है कि

शा... बा... शे... मेरे गादिया... केही रौही जोता... केलरे-केले...

अर्थात् शाबाश मेरे गादी... जोतों में अकेले अकेले कैसे कटी

गादी : छई महीने बाद आओ घौआरा बे छौयी ड़ाह... मानदरू... शेला...

छह महीने बाद घर लौट रहा हूँ तू मान्दरू (विशेष से बनी चटाई और शेला (बकरी के बालों से बना बैठने के लिए विछावन) बिछ कर रख।

जुआरी और साझा प्रयासों के फायदे

यदि हम कहें कि ग्रामीण क्षेत्रों में जुआरी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ी इस परंपरा ने जहाँ एक-दूसरे की मदद करने की इस प्रथा को ज़िन्दा रखा वहीं एक-दूसरे की मदद की परंपरा ने पहाड़ की जीवन-शैली को काफी हद तक आसान भी किया है। आत्मनिर्भरता के साथ-साथ विकास की नई ऊँचाईयाँ छूने और आर्थिकी को मजबूती करने में भी मदद की है।

ग्रामीण समाज में 'जुआरी' का सबसे बड़ा लाभ बिना पारिश्रमिक के कामगार की कमी

को पूरा करना था। 'जुआरी' के माध्यम से किसी भी जाति, आर्थिक दृष्टि से कमजोर को भी मदद मिल जाती है। ग्रामीणों की कृषि पर निर्भरता में 'जुआरी' की बड़ी भूमिका रही है। उदाहरण के लिए बड़े पैमाने पर ज़मीन की जोताई, गेहूँ, जौ, मक्की, आलू आदि की बुआई, निश्चित समय पर गुडाई, आलू और मक्की की भराई और समय पर गोबर और सर्दी के मौसम से पहले पशुओं के लिए चारे, ईंधन के लिए लकड़ी आदि का इंतजाम करना कम हाथों के लिए आसान नहीं है। ऐसे में जुआरों की मदद से काम आसान हो जाता है।

इस प्रथा से मजदूरी के रूप में दिया जाने वाला गाँव का धन भी गाँव में ही रहता था। ग्रामीण क्षेत्रों में अब जुआरी प्रथा कम होने का असर खेती पर भी दिखने लगा है जहाँ पहले गेहूँ, जौ, मक्की आदि के लहलाते हुए खेत ही खेत दिखते थे वहाँ अब खाली ज़मीन बहुतायत में दिखती है। जुआरों की मदद से एक बड़े क्षेत्रफल में खेती होती थी और उत्पादन भी ज्यादा होता था। अब खाद्यान, दालों आदि का उत्पादन काफी घट गया है। जुआरी परंपरा से धीरे-धीरे ग्रामीणों का मुँह फेरना हितकर नहीं है।

ढोर डंगरों के लिए घास की कमी, पशुओं को सड़कों पर भटकने की मजबूरी बन गया है। बदलती जीवन-शैली में आत्म-निर्भर किसान परिवार अब बाज़ार पर निर्भर हैं। जुआरी और साझे प्रयासों की कमी के चलते अब किसान की अधिकतर कमाई रोजमर्रा की ज़रूरतें या खाद्य वस्तुओं पर खर्च हो रही है। जुआरी के बहाने अपने लिए पर्याप्त अनाज, दालें आदि उगाने के दिन अब लद गए हैं।

पशुपालन के कम होने से जहाँ दूध, घी की कमी हो रही है वहीं खेती के लिए गोबर आदि न होने से मलीहियाती परंपरा भी कम होती जा रही है। किसान अब खेती के लिए खाद आदि पर निर्भर होता जा रहा है। खेती में जुआरू न होने से अब फसल भी कम बोई जा रही है। परंपरागत फसलें, खेती के तरीकों में बदलाव के चलते अपने बीज बचाने की विधि भी विलुप्त होती जा रही है।

बिना जुआरों के अब रुझान नकदी फसलों की ओर ही है। बागवानी में भी नई तकनीकों की ओर लोगों का ध्यान मोड़ा जा रहा है। ऐसे में लोग अब अपने सामर्थ्य, परिवार की श्रमशक्ति देखकर ही कृषि कर रहे हैं। खाद और बीज आदि के लिए भी बाज़ार पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। रासायनिक खेती की ओर पहाड़ के किसानों का रुझान जहाँ भोजन को जहरीला बना रहा है वहीं भूमि की उर्वरक क्षमता कम होती जा रही है। कीट पतंगों, खरपतवार नाशकों आदि के बढ़ते उपयोग से कृषि क्षेत्र में उत्पादन लागत बढ़ती जा रही है।

खेती में जुआरी प्रथा के खात्मे और सामर्थ्य अनुसार कृषि, बढ़ती उत्पादन लागत के साथ-साथ पहाड़ की जीवन-शैली भी बदलाव की राह है। पहाड़ का खान-पान, रहन-सहन तेजी से बदलता जा रहा है। आमतौर पर घी का उपयोग करने वाला ग्रामीण किसान भी अब दूध के लिए अमूल सरीखे उत्पादों और घी की जगह रिफाईंड तेल पर निर्भर हो गया है। अपने हाथों से उगाई जाने वाली, खेतों में पाई जाने वाली प्राकृतिक फल सब्जी की अपेक्षा रसायन युक्त सब्जियों

के चंगुल में फंसता जा रहा है। स्वाभाविक है कि हष्ट-पुष्ट गाँव का किसान भी खान-पान में बदलाव आने से असाध्य और खतरनाक बीमारियों की चपेट में आ रहा है। ऐसे में बदलता खान-पान, जीवन शैली पहाड़ के लोगों के लिए कोई अच्छा संकेत नहीं है।

जाहिर सी बात है कि जुआरी कम होने से कृषि पर आत्म-निर्भरता घटती जा रही है। हर परिवार का खर्च बढ़ता जा रहा है। उपचार महंगा होने से किसान कर्ज में डूब रहे हैं। महंगी होती मजदूरी, महंगी होती खेती के चलते किसानों का मोह भंग हो रहा है। खेती कम होने से, जुआरी कम होने से कठोर श्रम वाली कार्य-संस्कृति का भी ह्रास हो रहा है। एक ओर जहाँ कार्य-संस्कृति कम होती जा रही है वहीं दूसरी ओर खेती से मोहभंग आने वाली शिक्षित पीढ़ी के लिए भी घातक साबित हो सकता है। अपनी आजीविका के लिए जद्दोजहद बढ़ सकती है।

एक-दूसरे की काम में मदद की यह परंपरा में कमी ग्रामीण समाज में आपसी सौहार्द, भाईचारा बनाए रखने का मार्ग भी रोकती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी अच्छी आर्थिक स्थिति वाला परिवार मजदूर की मदद से भी कार्य-निष्पादन कर रहा है जबकि कमजोर अपने सामर्थ्य अनुसार ही काम कर रहा है। यह प्रवृत्ति भी आपसी भाईचारे की राह में खाई बनती जा रही है। जात-पात से दूर एक-दूसरे की मदद की यह प्रथा गाँव में आपसी भाईचारे को बनाए रखने में भी एक अहम कड़ी है।

जुआरी : कुछ सकारात्मक पहलू

कुल मिलाकर पहाड़ों में जुआरी और इसके विभिन्न स्वरूपों का पहाड़ की जीवन-शैली, खेती और आर्थिकी सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका है। जुआरी के कई सकारात्मक पहलू हैं। जुआरी से बिना पारिश्रमिक के कार्य-निष्पादन में बड़ी मदद मिलती है। जिस कार्य के लिए कई दिन लगते थे वह कुछ ही दिनों में हो जाता है। एक-दूसरे की मदद से ज्यादा दिन का कार्य कम समय में पूरा होना तय होता है। जुआरी की मदद से बड़े से बड़ा कार्य आसानी से संपन्न हो जाता है। इससे समय और धन दोनों की बचत भी होती है।

कुल्लू जिला के तमाम पहाड़ी इलाकों में आज भी मकान के निर्माण में जुआरी का बड़ा योगदान है। मकान निर्माण में जुआरी से निर्माण कार्य जल्दी पूरा करने में मदद मिलती है और लागत में काफी कमी आती है। तीरथन घाटी के नागनी के राजेंद्र और नगलाडी के आशीष बताते हैं कि साथ लगते गाँव में धारागाड में मकान बनाने की जुआरी के लिए गाँव के पांच लोगों का समूह निर्माण कार्य पूर्ण होने तक लगातार जुआरी करता है। भले ही उसमें महीनों क्यों न लग जाएँ लेकिन इस जुआरी समूह में परिवार का कोई भी सदस्य शामिल हो सकता है। ऐसे में समूह में लोगों को मकान बनाने में न तो कोई दिक्कत आती है और न ही मजदूरों के न मिलने की परेशानी। इस गाँव की इस जुआरी में खाने-पीने का खूब रिवाज है लेकिन श्रम के बदले मेहनताना नहीं बल्कि श्रम चुकता करने की यह परंपरा मकान बनाने में बेहद लाभकारी एवं मददगार साबित हो रही है।

जुआरी का सबसे बड़ा लाभ खेती में है। आमतौर पर पहाड़ों में दो ही फसलें होती हैं और पहाड़ की खेती पूर्णतः मौसम आधारित है। ऋतु चक्र के हिसाब से ही यहाँ खेती होती है। सिंचाई के लिए मौसम पर निर्भरता होने से बुआई या निराई-गुड़ाई होती है। ऐसे में एक ही परिवार या कम लोग अपनी पूरी खेती अकेले नहीं कर पाते। यही वजह है कि अब लोग परंपरा खेती की अपेक्षा कम खेतों में ही बिजाई करने में भलाई समझते हैं। टेक राम, राजू, गुमट, गोपाल आदि कहते हैं कि पहले उनके बुजुर्ग कोई भी भूमि बिना बिजाई के खाली नहीं छोड़ते थे। उस समय कृषि कार्य निपटाने के लिए जुआरी होती थी। इस प्रथा की वजह से मौसम के अनुरूप सही समय पर कृषि कार्यों को पूरा करने में आसानी होती थी। अब जुआरी कम होने से लोग कम खेतों में ही बुआई कर रहे हैं।

एक-दूसरे के सहयोग से ज्यादा क्षेत्रफल में खेती होती थी और उत्पादन भी ज्यादा होता था। उत्पादन ज्यादा होने से जहाँ परिवार अपनी जरूरतें पूरी करते थे वहीं उत्पादन ज्यादा होने पर जौ, मक्की, राजमाश, माश आदि बेच कर अन्य ज़रूरतें पूरी करते थे। अब जुआरी के अभाव में लोग सब्जी आदि उत्पादन को बढ़ावा दे रहे हैं। इससे बेशक नकदी आय बढ़ रही है लेकिन किसानों की ज्यादातर भूमि बिना बुआई के खाली रह रही है। अब लोग जीवन यापन के लिए ज़रूरी अनाज, दालों सहित तमाम आवश्यक वस्तुओं के लिए बाज़ार पर निर्भर होने लगे हैं। खर्च बढ़ने से किसानों की आर्थिकी भी प्रभावित हो रही है।

उदाहरण के लिए पहले परंपरागत खेती होती थी। गेंहूँ, जौ, मक्की आदि। मक्की की फसल के साथ राजमाश, कद्दू, खीरे आदि मिश्रित फसल का प्रचलन था। मक्की से जहाँ अपनी ज़रूरत पूरी होती थी वहीं राजमाश, कद्दू आदि से भी दाल, सब्जी की ज़रूरत पूरी होती। मक्की और राजमाश का उत्पादन ज्यादा होने पर बाज़ार में बेचने से दूसरी आवश्यकताएँ पूरी होती। अपने लिए बीज का चयन भी परंपरागत तकनीक से होता है। मजदूरों के स्थान पर जुआरी का लाभ होता है लिहाज़ा कृषि में लागत बहुत कम होती है। मक्की से ही पशुओं के लिए घास आदि की ज़रूरत भी पूरी होती।

खेती के बदलते स्वरूप में कृषि महंगी होती जा रही है। उत्पादन लागत बढ़ रही है और अपनी ज़रूरतों (खाद्यान सहित) के लिए बाज़ार पर निर्भरता बढ़ रही है।

जुआरी के बहाने गाँव या क्षेत्र में आपसी भाईचारा बन रहता है तथा गाँव में तकरार, टकराव की स्थिति अपेक्षाकृत कम होती है। एक-दूसरे की मदद की इस परंपरा से मेल-जोल और आपसी सद्भाव बना रहता है। खास बात यह भी है कि आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर के लिए जुआरी एक बड़ी मदद साबित होती है। जाति-पाति का भेद भुलाकर जुआरी में एक-दूसरे समुदाय शामिल होते हैं ऐसे में एकजुटता बनाए रखने में भी जुआरी की ग्रामीण समाज में बड़ी भूमिका है।

काम के साथ मनोरंजन भी जुआरी की ही देन है। जुआरी के बहाने मनोरंजन की परंपरा आपसी भाईचारे ओर संबंधों की डोर और भी मज़बूत होती है। बेहतर उत्पादन, आत्म-निर्भरता

के लिए कृषि और पहाड़ की आर्थिकी की मजबूती के लिए जुआरी एक साझा प्रयास है। जुआरी अलग-अलग परिवारों और समुदाय को जोड़े रखने की एक मजबूत कड़ी है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ी यह परंपरा सही मायने में लाभकारी थी ऐसा ग्रामीण भी मानते हैं। अधिकांश पहाड़ी क्षेत्र के लोगों को भी जुआरी प्रथा के हाशिये की ओर बढ़ने का मलाल है। वह दिन दूर नहीं जब जुआरी का स्थान मजदूरी लेगी और आर्थिक दृष्टि से कमजोर और सम्पन्न के बीच खाई पैदा होगी। जुआरी के बिना पहाड़ की कृषि पर आत्म-निर्भरता कम होगी और यह यहाँ की जीवन शैली को भी प्रभावित करेगी। इन सबका असर गाँव की आर्थिकी पर भी पड़ना तय है।

नकारात्मक पहलू

पहाड़ की इस साझी विरासत से बेशक पहाड़ की जीवन-शैली, कृषि व्यवस्था आदि में अहम् भूमिका रही है लेकिन सामाजिक तौर पर इसके कई पहलू भी सामने आते हैं। आर्थिक दृष्टि से कमजोर और जातीय आधार पर शोषण की प्रवृत्ति इस परंपरा का सबसे नकारात्मक पहलू था। शोषित समाज का शोषण इस प्रथा में भी होता रहा। कुछ बुजुर्ग कहते हैं कि पहले निम्न जाति के लोग उच्च जाति के लिए चाकरी करते थे। इन्हें 'बेअटु' या 'खोलिदार' कहा जाता था। यह खोलीदार सामाजिक और कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों में उच्च जाति का हाथ बंटता था। बदले में उसकी जरूरत भी वह उच्च परिवार पूरी करता था। विशेष अवसरों पर खोलीदार को भी उसका हिस्सा दिया जाता था। खोलीदार का शाब्दिक अर्थ मेरी समझ में खोले बैठने वाला है। स्थानीय भाषा में घर के आंगन को खोला कहा जाता है। बेअटु का अर्थ भी इसी से मेल खाता है।

ग्रामीण समाज में इस समुदाय को घर में प्रवेश वर्जित रहा है लिहाजा इन्हें बाहर ही बैठना होता है। 'खोअला' वास्तव में निचली मंजिल के साथ की खाली जगह भी होती थी। परस राम भारती, आशीष प्रभात, दिनेश आदि कहते हैं कि इस तबके के लोग एक दौर में आर्थिक दृष्टि से बेहद कमजोर थे। अपनी जरूरतों के लिए उच्च वर्ग पर निर्भर रहने वाले इन परिवारों को न चाहते हुए भी जुआरी का योगदान देना पड़ता था। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से कमजोर इस समुदाय के लिए उच्च वर्ग के लोगों से जुआरी का काम लेना मुश्किल था। इस वर्ग की जुआरी के दौरान भोजन व्यवस्था उच्च जाति के लोगों द्वारा की जाती थी।

सराज क्षेत्र के कुछ लोगों के मुताबिक दलित समुदाय के लोग जुआरी में अपना योगदान देते थे लेकिन दलितों की जुआरी में तभी शिरकत करते थे जब उस परिवार ने बकरा आदि अच्छे खान-पान का आयोजन किया हो। जातिगत भेदभाव की जड़ें गहरी करने में इस परंपरा का भी योगदान है। अलग समूह में खाना खिलाना, दलित समुदाय को घर से बाहर और दूसरे को घर के भीतर भोजन परोसना जुआरी के दौरान भी दिखता है। हालाँकि पुरानी पीढ़ी के लोगों को इसका मलाल नहीं था लेकिन शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ नई पीढ़ी अपनी इस उपेक्षा को समझने लगी है। यह उपेक्षा भी अब जुआरी के कम होने में एक कारक है।

जुआरी या साझी परंपरा में किसी भारी चीज को खींचकर लाने की प्रक्रिया में हेस्रू

बेशक जोश भरने का काम करता था लेकिन हेसरू (स्लोगन) में अश्लीलता का पुट भी सामाजिक तौर पर अखरता है।

पारिवारिक सम्पन्नता के आधार पर छोटी या बड़ी दारगी, मलीहियाती, जुआरी का आयोजन भी ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक आधार पर वर्गीकरण की झलक देता है। कमजोर तबका ऐसा बड़ा आयोजन करने के केवल सपने संजो सकता था या फिर यह सब उसके लिए महंगा साबित होता है।

जुआरी का भविष्य

जुआरी के कई स्वरूप विलुप्त हो चुके हैं कुछ विलुप्तता के कगार पर हैं। पहाड़ की कृषि, पहाड़ की जीवन-शैली में जुआरी की भूमिका अहम रही है। साझे प्रयासों, आपसी सहयोग से पहाड़ की परंपराएँ, कृषि व्यवस्था चलती है। शुभ कार्य हो या फिर दुखद घड़ियाँ, ग्रामीण समाज में आपसी सहयोग के लिए जन्मी परंपराओं का अस्तित्व आज भी श्रेष्ठ कहा जा सकता है। यही अमूल्य निधि इस पहाड़ी प्रदेश के पर्वतांचल को विविधता प्रदान करती है और अलग पहचान देती है। यही यहाँ की आर्थिकी का आधार है और यही यहाँ की जीवन-शैली में अपनत्व बनाए हुए है। यही यहाँ की सम्पन्नता का रहस्य है।

धन या दिहाड़ी की प्रवृत्ति के चलते पहाड़ की जीवन-शैली से जुड़ी जुआरी रूपी एक कड़ी कमजोर पड़ती जा रही है। वास्तव में जुआरी विलुप्तता की ओर बढ़ रही है। नई पीढ़ी का कृषि की ओर कम रुझान इसे तेजी से समाप्ति की ओर धकेल रहा है।

एक ओर बेरोजगारी और दूसरी ओर नौकरी की तलाश से युवा ऊर्जा का उपयोग कृषि क्षेत्र में घटता जा रहा है। मौजूदा शैक्षणिक व्यवस्था आज की पीढ़ी को कृषि से दूर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। ग्रामीण जीवन-शैली में बड़ा बदलाव महसूस किया जा रहा है। पहाड़ की इस बदलती जीवन-शैली में जुआरी, साझे प्रयास अब एक पीढ़ी तक सिमट कर रह गए हैं। इन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण की प्रक्रिया अब थमती हुयी नजर आ रही है।

ग्रामीण समाज में पशुपालन तेजी से सिमटता जा रहा है। बैल की जगह पॉवर टिलर ले रहा है। बाजार में मिलने वाली भाँति- भाँति की रासायनिक खाद की ओर किसानों का रुझान बढ़ रहा है। कृषि योग्य भूमि बगीचों में परिवर्तित हो रही है। खाद्यान, दालों, तिलहन आदि का स्थान सब्जी उत्पादन ले रहा है। जब पशु नहीं होंगे तो घास की आवश्यकता ही नहीं होगी तो घास की जुआरी का भी अंत होगा। गोबर नहीं होगा तो मलीहियाती भी नहीं होगी।

बाजार पर निर्भरता पहाड़ की आर्थिकी के लिए भी लाभकारी नहीं है। आज जिस मुकाम पर यहाँ की खेती का स्वरूप दिखाई दे रहा है उससे लगता है कि पहाड़ में खेती और उत्पादन लागत में वृद्धि पहाड़ के लोगों को कृषि से विमुखता की राह ले जा रही है। पहाड़ की किसानियत के लिए जुआरी जैसी परंपरा का विलुप्त होना शुभ संकेत नहीं है। कहना न होगा कि पहाड़ के किसानों की कृषि से विमुखता पहाड़ की कृषि को 'कॉन्ट्रैक्ट फार्मिंग' की ओर धकेल सकती है।

ऐसी स्थिति में भावी पीढ़ी के समक्ष आजीविका का गंभीर संकट भी सामने आ सकता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहाड़ के लोगों के लिए कृषि आत्म-निर्भरता का जरिया रहा है।

अध्ययन के दौरान यह बात उभर कर आती है कि जुआरी समाप्त होने से मजदूरों की मांग बढ़ेगी और मजदूर साल-दर-साल महंगे होते जाएंगे। मजदूर प्रथा के प्रचलन से गाँव या परिवार के धन का एक बड़ा हिस्सा बाहर चला जायेगा। खाद्यान आदि का उत्पादन कम होने से बाज़ार पर निर्भरता, प्रति परिवार खर्चों में बड़ी बढ़ोतरी का कारण बन सकती है। स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि जुआरी का पतन पहाड़ की कृषि व्यवस्था एवं प्रबन्धन और जीवन-शैली और आर्थिकी पर बड़ा असर कर सकता है।

उदाहरण के तौर पर परंपरागत खेती में मक्की की खेती से मुख्य फसल मक्की की होगी। राजमाश, कोहल सरीखी दालें सह फसलें होंगी। खीरा या ककड़ी, कहू आदि का उत्पादन भी होगा। लिहाज़ा निजी उपयोग के साथ-साथ बाज़ार में बेचा भी जा सकता है। इसके अलावा दूसरी फल सब्जी का उत्पादन भी सह फसल के रूप में संभव है। इसके अतिरिक्त पशु चारे के लिए चारा भी मिलता है।

बंजार के पास मंगलौर पंचायत के एक अध्ययन का सार

मक्की की खेती

परंपरागत फसल	— औसतन 10 किलो / 2 व्यक्ति
बीज पर खर्च	— शून्य (क्योंकि बीज परंपरागत तरीके से सहेजा जाता है)
जोताई / बुआई पर खर्च	— 2 दिन
निराई-गुड़ाई	— 6 दिन
खाद आदि	— शून्य (गोबर उपलब्ध रहता है)
फसल कटाई / बटोरना	— शून्य
उत्पादन	— 01 क्विंटल
खाद्यान, दाल आदि पर व्यय	— आंशिक
पशु चारे आदि पर व्यय	— शून्य
नोट : इस खेती के लिए काफी हद तक जुआरी प्रथा जारी है और खाद्यान भी मिलता है।	

समरूप फसल टमाटर (ज्यादा क्षेत्र में)

बीज या पनीरी	— 3,000 रुपये प्रति बीघा
जोताई/रोपाई	— 5 दिन
खाद / कीटनाशक आदि	— 2500 रुपये
धागे/लकड़ी आदि	— 5 दिन 1000 रुपये
निराई-गुड़ाई	— 5 दिन

कुल खर्च	— 6,500 रुपये
कुल बिक्री अधिकतम	— 25,000 रुपये (बाज़ार पर निर्भर)
खाद्यान दालों आदि पर व्यय	— औसतन 10,000 रुपये
पशुचारे आदि पर व्यय	— 10,000 रुपये

नोट : इस खेती के लिए जुआरी का प्रावधान नहीं है और न ही खाद्यान के लिए आत्म-निर्भरता।

आज की पीढ़ी के समक्ष पढ़-लिखकर रोजगार का संकट है और भावी पीढ़ी के लिए रोजगार के साथ-साथ रोज़ी के लिए संघर्ष का भी सामना करना पड़ सकता है। रोज़ी की जुगत और रोजगार का संकट एक पीढ़ी को गाँव से पलायन की राह पकड़ने को विवश करेगा। ऐसे हालात में न तो गाँव में पहले जैसा रसूख, न आपसी सद्भाव, न भाईचारा, न एक-दूसरे के मददगार बनने के क्षण दिखेंगे।

जब पशुपालन नहीं होगा तब रासायनिक या अन्य खादों का उपयोग होगा। रासायनिक खेती भूमि की उर्वरक क्षमता को लील लेगी। पौष्टिक भोजन पर बाज़ार में मिलने वाले उत्पाद भारी पड़ सकते हैं। लिहाज़ा सेहत के लिहाज़ से भी पहाड़ के लोगों को समस्या का सामना करना पड़ सकता है। जुआरी की मूल भावना में कृषि का हित निहित है। जो खेत खलियान, अच्छी सेहत होते हुए आपसी भाईचारे की बुनियाद को मजबूत करता है।

जुआरी के नये स्वरूप

जुआरी जैसी प्रथा की समाप्ति न केवल एक परंपरा के विलुप्त होने को इंगित करती है बल्कि यहाँ की कृषि व्यवस्था, आर्थिकी, जीवन-शैली पर भी इसका गहरा असर पड़ता नजर आ रहा है। बदलते दौर में जुआरी परंपरा को बचाया जाना जरूरी है भले ही इसका कोई और स्वरूप हो। बाज़ार पर आत्म-निर्भरता कम होने में लोगों का हित निहित है। यही लोगों की आर्थिकी का आधार है।

उदाहरण के लिए जुआरी के एक स्वरूप 'खानियाती' यानि भूमि को खेत बनाकर खेती योग्य बनाना या सुधार करना भी विलुप्तता के कगार पर पहुँच चुका था। अब 'खानियाती' कम ही दिखती है। ऐसे में भारत सरकार की 'महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा)' के तहत 'भूमि सुधार कार्यक्रम' 'खानियाती' परंपरा का ही रूप है। फर्क सिर्फ इतना है कि इस योजना के तहत काम करने वाले सभी कामगारों को इसका भुगतान होता है।

बीते कुछ सालों में हिमाचल के ऊँचाई वाले क्षेत्रों में इस योजना में लोग बड़ी रूचि दिखा रहे हैं और बड़ी संख्या में लाभान्वित भी हो रहे हैं। मनरेगा की इस गतिविधि के बहाने लोगों में परस्पर तालमेल देखा जा सकता है। कई क्षेत्रों में भूमि सुधार के दौरान भूमि का मालिक परिवार अपनी ओर से 'मनरेगा' मजदूरों के लिए खाने-पीने और दावत आदि का आयोजन जुआरी की भांति ही कर रहे हैं। ऐसे उदाहरण बंजार घाटी की लगभग सभी पंचायतों

के गाँव में देखने को मिलते हैं जहाँ मनरेगा के तहत भूमि-सुधार और पुराने बगीचे के सुधार की गतिविधियाँ चल रही हैं।

अपना बचपन दिल्ली में बिताने वाले मनोज नेगी बताते हैं कि उनकी माता राष्ट्रपति भवन में सेवारत थी। सेवानिवृत्ति के कुछ साल बाद वे घर लौटे। अपनी बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाना उनके लिए बड़ी चुनौती था। स्थानीय लोगों से कम मेल-जोल, जुआरी सरीखी परंपराओं की अनभिज्ञता और मजदूरों से काम न करवा पाने की क्षमता के चलते आखिरी मनरेगा योजना उनके लिए सम्बल बनी और भूमि सुधार योजना से उन्हें अपनी भूमि को कृषि योग्य बनाने का अवसर मिला। बंजार के पास शराई गाँव की विधवा ओमा देवी ने बताया कि पति की मौत के बाद उनके बच्चे छोटे थे और अपनी थोड़ी-सी भूमि को सुधारना उनके लिए मुश्किल काम था लेकिन मनरेगा के तहत भूमि सुधार योजना से उनकी यह मुश्किल आसान हो गयी।

बंजार की शिल्ही पंचायत के उप-प्रधान मोहर सिंह कहते हैं कि भूमि सुधार योजना से उनकी पंचायत में बीसियों परिवार लाभान्वित हुए हैं। उनके अनुसार उनकी पंचायत ही नहीं बल्कि समूचे बंजार और कुल्लू जिला सहित प्रदेश के अन्य पहाड़ी क्षेत्रों में भूमि सुधार योजना एक बड़ी एकटिविटी है जिसमें सैकड़ों परिवार लाभान्वित हुए। वह कहते हैं कि पहले भूमि सुधार बड़े परिवार या कामगार होने पर या जुआरी की बदौलत ही संभव था। मनरेगा के तहत भले ही मांग के अनुरूप भूमि सुधार योजना शुरू हुयी लेकिन इस योजना ने भूमि सुधार के जुआरी के मूल स्वरूप को ही आत्मसात किया है। इस योजना से जहाँ लोगों का काम आसान हो रहा है वहीं लोगों में आपसी भाईचारे की बुनियाद भी मजबूत हो रही है। फर्क सिर्फ इतना है कि अब काम के बदले धन भी मिल रहा है। मनरेगा के तहत भले ही भुगतान हो रहा है लेकिन सरकार की इस योजना के तहत लाभार्थी आज भी खान-पान की व्यवस्था जुआरी की भाँति ही कर रहे हैं।

मोहर सिंह बताते हैं कि अब पुराने बगीचों को सुधारने के लिए पौधारोपण योजना के तहत नये फलों के पौधे लगाने का कार्य भी मनरेगा योजना में शामिल होने से एक बार फिर जुआरी का स्वरूप दिखाई देने लगा है। इससे गड्डे खोदने और पौधे रोपने के कार्य में जहाँ लोगों का कार्य आसान हो रहा है वहीं मिल-जुलकर किये जा रहे प्रयास भी बागवानी को बढ़ावा देने में मददगार साबित हो रहे हैं।

यह योजना एक बार फिर लोगों को जुआरी की तर्ज पर सम्बल प्रदान कर रही है। तुंग पंचायत के युवराज बताते हैं कि इस योजना का उन्हें भी लाभ हुआ है। इस योजना के तहत उन्होंने भी सेब आदि के करीब डेढ़ सौ पेड़ लगाये हैं। इस योजना में जहाँ उन्हें पेड़ उपलब्ध हुए वहीं इनके रोपण, गड्डे खोदने आदि के लिए अपने ही गाँव के मजदूरों की सेवा भी मनरेगा के तहत उपलब्ध हुयी। वह कहते हैं कि उनके आर्थिक हालात के चलते यह सब उनके लिए नामुमकिन था।

पंचायत समिति के लिए हाल ही में चुनी गयी कमला ठाकुर, उप प्रधान मोहर सिंह, किसान दलीप कायथ, पुरुषोत्तम, नूतन, पूर्णचंद आदि की राय में मनरेगा जैसी योजना के तहत कृषि को बढ़ावा देने की दिशा में प्रयास किये जाने चाहिए जिससे पहाड़ की खेती उपेक्षित नहीं

होगी। खाद्यान, दालों की खेती, फल सब्जी उत्पादन, रोपाई, निराई-गुड़ाई आदि गतिविधि भी मनरेगा के तहत की जा सकती है। इस बहाने जहाँ मनरेगा मजदूरों की आय बढ़ेगी वहीं कृषि उत्पादन भी बढ़ेगा और उत्पादन लागत भी कम होगी।

पूरण चंद कहते हैं कि हिमाचल प्रदेश में 9 लाख से ज्यादा किसान परिवार हैं और लगभग सभी मनरेगा मजदूर भी हैं। प्रदेश में कुल करीब 24 लाख मनरेगा मजदूर हैं। कहा जा सकता है कि एक बड़ी श्रमशक्ति है। किसी न किसी माध्यम से इन्हें कृषि से जोड़ने से जहाँ श्रम का सही उपयोग होगा वहीं कृषि भी उपेक्षित नहीं होगी। इससे कृषि उत्पादन भी बढ़ेगा और परिवारों की आय में भी इजाफा होगा। उत्पादन बढ़ने से जहाँ गाँव में बसने वाले किसान परिवार आत्म-निर्भर होंगे वहीं इनकी आर्थिकी भी सुधरेगी। कृषि संबंधी अन्य गतिविधियों को मनरेगा से जोड़ना एक परंपरा के रूप में लोगों को जोड़े रखने में भी सार्थक भूमिका निभाएगा।

कृषि क्षेत्र की तमाम गतिविधियों को मनरेगा जैसी योजना के अधीन लाकर लाभकारी बनाए जाने के प्रयास लोगों की कृषि की ओर हो रही विमुखता को कम करेगी। फल-सब्जी की रोपाई, बुआई, निराई-गुड़ाई, फसल बटोरना, सेब का तुडान आदि मनरेगा के दायरे में लाना लाभकारी साबित हो सकता है। खाद्यान, फल, सब्जी, दालों आदि का उत्पादन बढ़ने से लोगों की आय में भी इजाफा होगा और बाज़ार पर निर्भरता कम होगी। इससे ग्रामीण क्षेत्र के किसान परिवारों की आर्थिकी मजबूत होगी। ये क्रिया-कलाप नकदी आय का अच्छा जरिया भी बन सकते हैं। इससे न तो ग्रामीण एवं पहाड़ी क्षेत्रों की उपजाऊ धरा बंजर रहेगी और न ही लोगों का मुख्यतः युवाओं का रुझान पलायन की ओर बढ़ेगा।

पहाड़ों में जुआरी के बदले यदि मनरेगा जैसी योजना के तहत भुगतान की परंपरा भी विकसित होगी इससे जहाँ लोगों में आपसी सद्भाव बढ़ेगा वहीं गाँव का पैसा गाँव में ही रहेगा। खेत को तैयार करना, सब्जी आदि की रोपाई, निराई-गुड़ाई, सेब तुडान सरीखी गतिविधियों के लिए जुआरी के समतुल्य आपसी सहयोग से मदद की एक परंपरा लाभकारी साबित हो सकती है। कृषि और बागवानी को लाभकारी बनाने से ही आर्थिकी मजबूत होगी। परिवार और गाँव का विकास होगा। इससे जुआरी का एक स्वरूप भी जीवंत रहेगा। मनरेगा के तहत कृषि कार्य पहाड़ की कृषि के लिए श्रमशक्ति की मांग को पूरा करने में अहम भूमिका निभा सकती है। चूँकि मनरेगा के तहत गाँव के लोगों का समूह ही काम करता है लिहाज़ा ग्रामीण अंचलों के लोगों के बीच आपसी सद्भाव और भाईचारा बनाए रखने में भी यह गतिविधि फायदेमंद साबित हो सकती है।

पहाड़ की परंपराओं का विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान है। जुआरी जैसी परंपरा जहाँ पहाड़ की जीवन-शैली को आसान बनाती है वहीं कृषि के लिहाज़ से भी लाभकारी है। परंपराएं लोगों को जोड़े रखने में भी भूमिका निभाती है। एक-दूसरे की मदद की परंपरा और स्वरूप की बदौलत ही पहाड़ों का मौजूदा अस्तित्व है।

पहाड़ के लोगों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-दूसरे की मदद करने की परंपराओं को बखूबी निभाया है। देव परंपराएं, मेले त्यौहार, रस्मो-रिवाज़ का वजूद भी लोगों के साझे प्रयासों से ही बना

हुआ है। मेहनतकश कहे जाने वाले पहाड़ के किसानों ने विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप अपनी पुश्तैनी विरासत को अगली पीढ़ियों को सौंपने का सफल प्रयास किया है। इसके अनुसार यहाँ कृषि या दूसरे काम धंधे चलते आ रहे हैं। पहाड़ की जीवन शैली में बदलाव की बयार और बेरोजगारी का संकट कृषि और पुश्तैनी काम धंधों से विमुखता की वजह बनता जा रहा है। परंपराओं का ह्रास हो रहा है।

बदलती जीवन शैली का परंपराओं पर असर इन्हें हाशिये पर धकेल रहा है ऐसे में कुछ साझी विरासतों पर विलुप्तता के बादल मंडराने लगे हैं। कहना न होगा कि विरासत स्वरूप आगे बढ़ी परंपराओं का अंत नुकसानदेह साबित होगा और आपसी भाईचारे की बुनियादों और दीवारों को खोखला कर सकता है। पहाड़ों के विकास और आपसी सद्भाव को बनाए रखने के लिए और सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य में जुआरी सरीखी परंपराओं को बचाए रखने या फिर आधुनिकता के सांचे में ढालने से ही कुछ सकारात्मक परिणाम सामने आ सकते हैं।

अपनी विरासत को बचाने के लिए ग्रामीणों का योगदान, चेतना और समझ ही बड़ी भूमिका निभा सकती है। अपनी पारंपरिक विरासत को बचाने के एक बड़ी चुनौती पहाड़ के लोगों के समक्ष है। एक ऐसी विरासत जो कई पीढ़ियों और समुदायों ने बचायी भी है, सरंक्षित भी की है। इस विरासत को बदलते जीवन के तौर-तरीकों, बदलती खेती, बदलती जीवन-शैली के अनुरूप भी ढाला जा सकता है। इस विरासत से न केवल कार्य निष्पादन में बल्कि मानव जीवन से भी घनिष्ठ संबंध है। जुआरी जैसी परंपरा का विलुप्तता की ओर जाना पहाड़ के लोगों को भी प्राकृतिक खान-पान से भी दूर ले जा रहा है। ऐसे में बदलता खान-पान पहाड़ के हृष्ट-पुष्ट लोगों की सेहत के लिए भी असरकारक है। बदलती कृषि शैली में रसायनों का बढ़ता उपयोग उपभोक्ता के लिए भी घातक साबित हो रहा है।

धन के बल पर कार्य निष्पादन की नई परंपरा भले ही जुआरी पर भारी पड़ती जा रही है लेकिन यह मानव सम्बन्धों को एक सीमित दायरे तक समेट रही है। एक-दूसरे की मदद का यह रिवाज पहाड़ की तरक्की के साथ-साथ आपसी भाईचारे की मजबूत बुनियाद का भी आधार एवं राज है। इस बुनियाद की मजबूती और इस परंपरा को बचाए रखने के लिए जन चेतना भी जरूरी है। इसे बचाए रखने के लिए साझे प्रयासों की आवश्यकता है।

.....



***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए